भाषा में स्त्री और स्त्री की भाषा-2

रवींद्र कुमार पाठक

वर्जीनिया वुल्फ़ और महादेवी वर्मा : स्त्रीभाषा के इर्द-गिर्द

वर्जीनिया वुल्फ़ (1882-1941, इंग्लैंड) स्त्री-चिंतकों में संभवतः पहली हैं, जिन्होंने स्त्री और भाषा के संबंध पर बात की थी। 'विमेन ऐंड फ़िक्शन' शीर्षक आलेख (*द फ़ोरम*, मार्च, 1929) में वर्जीनिया ने भाषा और स्त्री के रिश्ते पर एक ख़ास संदर्भ में विचार किया है और वह संदर्भ है : स्त्री-रचनाकारों द्वारा लिखित साहित्य। वैसे यह आलेख प्रचलित भाषा के अंतर्गत स्त्री-रचनाकार को हो रही परेशानियों के ज़िक्र के साथ, उसकी माक़ूल अभिव्यक्ति के लिए अलग भाषिक प्रारूप की संभावना तलाशते हुए, स्त्री और भाषा के रिश्ते पर बख़ूबी विचार करता है, लेकिन 'स्त्रीभाषा' (लिंग बोली) नामक उक्त तत्त्व पर वह प्रत्यक्षतः प्रकाश नहीं डालता। हो सकता है कि उक्त संदर्भ में विचार करने के दौरान इसमें स्त्रीभाषा की अनुगूँज व्याप्त हो।

मैनेजर पाण्डेय ने स्त्री की रचनात्मक अभिव्यक्ति की भाषा के पुरुष-भाषा से भिन्न होने की वर्जीनिया की बात का समर्थन किया है। 'साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका' में पाण्डेय कहते हैं :

> एक ही कथा को अगर स्त्री और पुरुष दोनों अलग-अलग कहें और श्रोता समुदाय भी भिन्न-भिन्न हो तो कथा में अनेक तरह के परिवर्तन हो जाते हैं। कथा के पात्रों के साथ कथा कहने वाली या कथा कहने वाले की भावनाएँ बदल जाती हैं। ... कथा के कहने, सुनने और पढ़ने में स्त्री और पुरुष के दृष्टिकोण में अंतर हो सकता है। ... कथा कहने के ढंग में सोचने का ढंग भी निहित होता है, उसके माध्यम से स्त्री अपने स्वत्व और आत्मसम्मान की प्रतिष्ठा करती है। सामाजिक स्थिति और मूल्य-चेतना के अंतर के कारण पुरुष कथाकारों के उपन्यासों में स्त्री को जिस रूप में देखा और चित्रित किया जाता है, उससे भिन्न दृष्टिकोण स्त्री कथाकारों के उपन्यासों में मिल सकता है। *हज़ार चौरासी की माँ* जैसा उपन्यास और *द्रौपदी* जैसी कहानी महाश्वेता देवी ही लिख सकती हैं, कोई पुरुष कथाकार नहीं। वर्जीनिया वुल्फ़ ने तो यहाँ तक कहा है कि स्त्री का दृष्टिकोण सामाजिक चेतना ही नहीं, कथा की शैली और वाक्य-रचना में भी पुरुष से भिन्न होता है। डोरोथी

> रिचर्डसन के बारे में वर्जीनिया वुल्फ़ ने लिखा है कि वह उपन्यास की भाषा में पहले से मौजूद 'पुरुष वाक्य' की जगह 'स्त्री वाक्य' का विकास कर रही थी। उसने स्त्रीवाक्य और स्त्रीभाषा की विशेषताओं की ओर संकेत भी किया है।[1]

वर्जीनिया ने उक्त आलेख में इस तथ्य पर ज़ोर दिया है कि पुरुष से स्त्री के अनुभव बहुत हद तक भिन्न होते हैं, जिसका कारण उसकी जैविक व सांस्कृतिक परिस्थितियों की भिन्नता है। अनुभव की यह भिन्नता उसकी भाषिक अभिव्यक्ति की भिन्नता में स्वतः ढल जाती है। यही कारण है कि स्त्री की भाषा शिल्प या बुनावट के स्तर पर पुरुष से भिन्न होने लगती है। वर्जीनिया ने साफ़ तौर पर कहा है कि सच्चाई यह है कि आज भी स्त्री जब लिखने बैठती है, तो उसे लेखन में प्रविधि (शिल्प) के स्तर पर कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। उदाहरणस्वरूप, कोई स्त्री अपनी अभिव्यक्ति के लिए कोई वाक्य रचती है, तो वह उसकी सोच के अनुसार फ़िट नहीं बैठता, क्योंकि उस वाक्य का साँचा पुरुष द्वारा रचित (पुरुषानुकूल) होता है। वह स्त्री के उपयोग के लिहाज़ से या तो बहुत हल्का/ढीला होता है या बहुत भारी, अथवा वह बनावटी होता है। फिर भी, उपन्यास में लचीलापन या फैलाव की संभावना रहती है। ऐसे में वहाँ ऐसे साधारण वाक्य चाहिए, जो पाठक के लिए सुबोध हो और आख़िर तक उसे बाँधे रखे। ऐसा तभी होगा, जब स्त्री के लिए ख़ुद की वाक्य-संरचना हो, जो कि वर्तमान प्रचलित (पुरुष) वाक्य-साँचे से अलग हो, जिससे कि अपने अनुसार उसे बदल कर लिखने को विवश न होना पड़े; बल्कि अनुभूति को स्वाभाविक रीति से बिना अतिरिक्त परिश्रम के अभिव्यक्त कर सके ।[2] इसके साथ, वर्जीनिया ने यह भी कहा कि उपन्यास का ढाँचा पुरुष-निर्मित जीवन-मूल्यों से नियंत्रित रहा है, जिसके कारण स्त्री उपन्यास लिखती है, तो वह भी कुछ हद तक पुरुषवादी प्रभाव से ग्रस्त रहेगा ही। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देना ज़रूरी है कि भाषाविज्ञानियों द्वारा उल्लिखित और परिभाषित पूर्वोक्त 'स्त्रीभाषा' पितृसत्ता की परिधि में घुट रही स्त्री के अनुकूलन का भाषिक रूप है, जिसमें दमित स्त्री की दमित चेतना की किसी मात्रा में ही अभिव्यक्ति हो पाती है। परंतु, वर्जीनिया इन वाक्यों में जिस संभावित 'स्त्रीभाषा' का संकेत करती हैं, वह पितृसत्तात्मक समाज की कथित आम (पुरुष) भाषा में अनफ़िट हो रही (रचनाकार) स्त्री की समर्थ अभिव्यक्ति के लिए अनुकूल भाषा की तलाश से जुड़ी हुई है। (आगे स्त्री-अनुकूल भाषा पर विचार के प्रसंग में इस पक्ष को और स्पष्ट किया जाएगा।)

वर्जीनिया वुल्फ़ के उक्त प्रतिपादन से गुज़रते हुए, हिंदी-वैचारिकी में स्त्री-दृष्टि की भव्य प्रस्ताविका महादेवी वर्मा की कालजयी कृति *श्रृंखला की कड़ियाँ में संकलित ये पंक्तियाँ ध्यान में आ जाती हैं :* 'पुरुष द्वारा नारी का चरित्र अधिक आदर्श बन सकता है, परंतु अधिक सत्य नहीं; विकृति के अधिक निकट पहुँच सकता है, परंतु यथार्थ के अधिक समीप नहीं।

---

[1] मैनेजर पाण्डेय (2002) : 66-67.

[2] वर्जीनिया वुल्फ़ (1929) : 181-182. [https://www.unz.com/print/Forum-1929mar-00179 : 25 जनवरी, 2020 को 9.00 बजे पूर्वाह्न देखा गया.

पुरुष के लिए नारीत्व अनुमान है, परंतु नारी के लिए अनुभव। अतः अपने जीवन का जैसा सजीव चित्र वह हमें दे सकेगी, वैसा पुरुष बहुत साधना के उपरांत भी शायद ही दे सके।'[3] महादेवी ने इन पंक्तियों में भले वर्जीनिया की तरह भाषा और स्त्री के संबंध पर सीधे-सीधे कुछ नहीं कहा हो, लेकिन उनके इस कथन में उसकी संभावना तलाशी जा सकती है, क्योंकि पुरुष से स्त्री के अनुभव की भिन्नता की बात करके महादेवी ने इस विचार का बीजारोपण-सा कर दिया है कि वह भिन्नता उनके भाषिक अभिव्यक्ति के प्रारूपों की भिन्नता में स्वतः ढल जाती है। यही वह बिंदु है, जिस पर वर्जीनिया और महादेवी साथ-साथ हो जाती हैं और दोनों स्त्री-अनुकूल भाषा के विचार को आकार देती प्रतीत होती हैं।

यह ठीक है कि स्त्री के निजी अनुभव-क्षेत्र से संबद्ध चीज़ों या स्थितियों के किसी प्रामाणिक चित्रण की अधिक उम्मीद स्त्री से ही की जा सकती है, लेकिन ऐसा कहते हुए इसमें इतना जोड़ लेना होगा कि उसके लिए 'नारी-अनुभवों' के साथ उनके यथार्थ विश्लेषण की क्षमता का भी योग होना चाहिए। कारण, जैविक रूप से स्त्री होने से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण होता है 'स्त्री-दृष्टि' से संयुक्त होना, क्योंकि देह से शत-प्रतिशत स्त्री होकर भी, दृष्टि या मिज़ाज से पुरुष होना असंभव नहीं है, बल्कि वही आम है। अस्सी सालों से भी अधिक पहले कही गयीं, महादेवी जी की उक्त पंक्तियाँ पुरुष-दृष्टि के वर्चस्व से आक्रांत तत्कालीन (गत सदी के तीस के दशक में) समाज में पुरुषवादी लेखन के दबावों के परिप्रेक्ष्य में साहित्य व वैचारिकी में स्त्री-दृष्टि की आवश्यकता और महत्त्व को दर्शा रही थीं, न कि किसी पुरुष के भीतर 'स्त्री-दृष्टि' के एकांत अभाव को। वे न तो उसके द्वारा स्त्री-प्रश्नों से जुड़े किसी संवेदनशील लेखन की संभावना को नकार रही थीं और न उसे अनधिकार चेष्टा साबित कर रही थीं। कारण, व्यापक सत्य यही कि अपनी प्रतिभा (कल्पना-शक्ति) की बदौलत, 'सहानुभूति' के ज़रिये कुछ भी, किसी का भी 'सच' कहा या रचा जा सकता है, फिर भी 'स्वानुभूति' का अपना रंग और अपनी आँच होती है, इससे भी इनकार नहीं किया जा सकता। बिना उसके, केवल 'सहानुभूति' के बल पर चाहे कितना भी दिमाग़ लगा लिया जाए, कितना भी गुणवत्तापूर्ण लेखन कर लिया जाए, पर उसकी प्रामाणिकता में न्यूनता का संदेह बना ही रहेगा। इसी जगह यह बात खुलती है कि महादेवी जी का उक्त कथन ऐतिहासिक के साथ, किसी सीमा तक

[3] महादेवी वर्मा (1997) : 66.

सार्वभौमिक महत्त्व भी रखता है। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी स्त्री-प्रश्न पर समान (स्त्री-) दृष्टि और (लेखकीय) क्षमता से युक्त एक स्त्री और एक पुरुष के लेखन में स्त्री का लेखन हमेशा भारी पड़ता है और ऐसा होने का कारण 'स्वानुभूति' ही है। परंतु, इस संदर्भ में स्त्री-मात्र का लेखन पुरुष-मात्र के लेखन से अधिक यथार्थपरक होगा : यह सदा इसलिए आवश्यक नहीं है, क्योंकि 'दृष्टि' और 'क्षमता' भी कोई चीज़ होती है, 'अनुभव' भर होना पर्याप्त नहीं है।

महादेवी की उक्त कृति का ऐतिहासिक महत्त्व है, क्योंकि वह सारी दुनिया में स्त्रीवादी चिंतन व आंदोलन पर प्रेरक प्रभाव डालने वाली कृति *द सेकेण्ड सेक्स* (सीमोन दि बुआ, 1949) के अस्तित्व में आने से पर्याप्त पूर्व (1942 में) तो छप ही चुकी थी, बल्कि इससे भी बड़ी सच्चाई यह है कि उसके अधिकांश निबंध तीस के दशक में ही *चाँद* पत्रिका के संपादकीय लेखों के रूप में आ चुके थे। यह वही समय है, जब वर्जीनिया वुल्फ़ के उक्त आलेख का प्रकाशन होता है। इस तरह से उपर्युक्त दोनों विचारकों (वर्जीनिया और महादेवी) के स्त्रीविमर्शक उक्त लेखन लगभग समकालीन हैं। फलतः उनकी पारस्परिक तुलना तर्कसंगत और विचारोपयोगी है। वैसे महादेवी की उक्त कृति का ऐतिहासिक ही नहीं, समकालिक महत्त्व भी है, क्योंकि भारतीय समाज की आधी आबादी (स्त्री) को पराधीन, वंचित और संत्रस्त करने वाली जिन आर्थिक, सामाजिक-सांस्कृतिक कड़ियों का उसमें विश्लेषण किया गया है, वे आज भी कमज़ोर नहीं हुई हैं, बल्कि उनमें से कई तो समय-समय पर 'सांस्कृतिक-धार्मिक पुनरुत्थानवादी राजनीति' के प्रयासों से पुनर्जीवित व पुनर्नवीन की जाती रही हैं। दुर्भाग्य से वह समय आज फिर से बड़े विकराल रूप में मौजूद है। इस परिस्थिति में स्त्रीविरोधी सामाजिक चेतना के प्रतिकार हेतु *शृंखला की कड़ियाँ* का युगीन महत्त्व बरक़रार है और जब तक भारतीय समाज (विशेषकर हिंदी-पट्टी में) स्त्री-मुक्ति का काम्य लक्ष्य सिद्ध नहीं होता, संभवतः तब तक उसका महत्त्व किसी न किसी रूप में क़ायम रहेगा।

वर्जीनिया वुल्फ़ और महादेवी वर्मा की इस तुलनात्मक चर्चा में उभर आए 'स्त्री-अनुकूल भाषा' के विचार को हम इस आलेख में विस्तार से आगे उठाएँगे। फ़िलहाल 'स्त्रीभाषा' (लिंग-बोली) पर हम फिर से लौटते हैं।

रॉबिन लैकॉफ़ : स्त्रीभाषा का पक्ष

स्त्रीभाषा-संबंधी वैचारिकी के क्षेत्र में, अमेरिका के कैलिफ़ोर्निया विश्वविद्यालय में भाषाशास्त्र की प्राध्यापिका रॉबिन टोलमैच लैकॉफ़ का उल्लेखनीय स्थान है। उनकी *लैंग्वेज ऐंड विमेंस प्लेस* (1975) नामक किताब सामाजिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। लैकॉफ़ ने 1970 की शुरुआत में, अपने समाज की स्त्रियों की भाषिक प्रवृत्तियों का सर्वेक्षण करके यह मत रखा कि अमेरिकी स्त्रियाँ निश्चयात्मक या निर्णयात्मक वाक्यों के प्रयोग से बचने हेतु कुछ भाषाई विधियों या तकनीकों का इस्तेमाल करती हैं, जो निम्नवत् हैं :

. टैग (संलग्नक) प्रश्न : चुनाव में भयानक अफ़रा-तफ़री है। है *न?*

. वाक्य को सुरीला बनाना : खाना कब तैयार होगा? छह बजे तक? (‘खाना छह बजे तक तैयार कर दूँ’ की जगह।)

. बाड़ लगा कर बोलना : यह दुखभरा *लग रहा* है। यह *शायद* डिनर का समय है।

. परिवर्धक लगाना : मैं *बहुत* ख़ुश हूँ कि तुम यहाँ हो।

. अप्रत्यक्ष विधि : अच्छा, तो मेरा एक डेंटिस्ट के यहाँ एपॉइंटमेंट है। (यह अनुमति की आकांक्षा के साथ बोला गया वाक्य है। चाहती तो सीधे भी बोल सकती थी कि मुझे एक डेंटिस्ट के यहाँ जाना है।)

. शब्द-बंध को संक्षिप्त कर बोलना : ‘छोटी पैण्ट’ न कह कर ‘पैण्टी’ कहना।

. अश्लील/टैबू से बच कर बोलना : ‘पेशाब करने’ की जगह ‘बाथरूम जाना’ बोलना।

(इन विधियों के उदाहरणों के प्रस्तुतीकरण में प्रस्तुत अध्येता ने थोड़ी स्वतंत्रता ली है।)

उक्त प्रकार के सर्वेक्षण द्वारा वे (उक्त अमेरिकी) स्त्रियों की उस भाषिक प्रवृत्ति को उजागर करती हैं, जिसके चलते वे ख़ुद को प्रभावी ढंग से अभिव्यक्त होने से बचाना चाहती हैं और उसके लिए वे कमज़ोर लहजे का सहारा लेते हुए, अपनी भाषा को मुलायम बना कर प्रस्तुत करती हैं। इस तरह से जो उनका संप्रेषण होता है, उसमें सामने वाले की सहमति को शामिल करने का प्रयास शामिल रहता है। कहना नहीं होगा कि लैकॉफ़ की ये बातें स्त्रीभाषा के पूर्वकथित लक्षणों को ही विस्तार देती हैं, जिन्हें सुकुमार सेन के प्रसंग में हम प्रस्तुत कर चुके हैं।[4]

लैकॉफ़ के उक्त निष्कर्षों के आधार पर मेरी क्रॉफ़ोर्ड (1995) ने यह राय बनाई कि सशक्तीकरण हेतु महिलाओं को बात करने के प्रभावी तरीक़े अपनाने चाहिए। उन्हें निश्चयात्मक वाक्यों का सहारा लेना चाहिए। कुछ लोगों ने यह भी कहा कि उक्त तरह की अभिव्यक्तियाँ प्रयोक्ता महिला के शक्तिहीन होने का ही एकमात्र प्रमाण नहीं हैं, बल्कि वह अपने सामाजिक संबंध को बेहतर बनाने हेतु भी (भाषा के उक्त प्रयोग द्वारा) श्रोताओं को अनुकूल बनाने का प्रयास कर सकती है। विलियम ओ’बार और किम एटकिंस (1980) न्यायालय की कार्यवाही और दस्तावेज़ों के विश्लेषण के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि उक्त तरह की भाषिक प्रवृत्तियाँ सत्ता-संरचना में कमज़ोर जगह पर बैठे लोगों से संबंध रखती हैं, न

---

[4] जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (2007) : 207

‘रॉबिन लैकॉफ़ द्वारा लिखित ‘लैंग्वेज़ ऐंड विमेंस प्लेस’ ने स्वयं कई स्टीरियोटाइप निर्मित किए ... लैकॉफ़ की पुस्तक से स्त्रीभाषा की छवि, चापलूसी की भाषा की भी बनती है, जहाँ किसी तरह का प्रतिरोध नहीं है और सब कुछ ठीक है. लैकॉफ़ स्त्रीवादी हैं और वे भिन्नता को राजनीतिक संदर्भ से व्याख्यायित करती हैं. स्त्रियाँ स्वीकृतिमूलक भाषा बोलती हैं क्योंकि वे स्वीकृति चाहती हैं और डरती हैं कि पुरुष उनकी स्पष्ट भाषा को अपमानजनक और धमकाने वाला न समझ ले! यद्यपि लैकॉफ़ की स्त्रीभाषा की तस्वीर स्टीरियोटाइप है, जिसके लिए उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिए हैं, उनके निष्कर्षों में अनेक कमियाँ भी हैं. लेकिन सवाल उठता है कि क्यों इस तरह के स्टीरियोटाइप आधुनिक ‘वैज्ञानिक’ भाषाविज्ञान में मौजूद हैं? अंशतः इस का संबंध प्रयोग की गई पद्धति से है. लैकॉफ़ चॉमस्कियन पद्धति में दीक्षित हैं, जो नमूना-संग्रह में विश्वास नहीं करता, बल्कि इसकी जगह विश्लेषक को भाषा के बारे में अपने पूर्वानुमानों का परीक्षण करना चाहिए, इसकी वकालत करता है. ज़ाहिर है कि यह पद्धति ऐसे विश्लेषण में कारगर नहीं हो सकती, जहाँ बड़े समुदाय के भाषिक व्यवहार के सामान्यीकरण का सवाल हो.’

कि किसी लिंग-विशेष से।[5]

स्त्रियों की भाषा और हिंदी की समकालीन वैचारिकी

हिंदी के शीर्षस्थ कथाकार और साहित्यिक पत्रकारिता के ज़रिये हिंदी में हाशिये की वैचारिकी के बड़े प्रस्तावक और प्रतिष्ठापक राजेंद्र यादव ने *कथा जगत की बाग़ी मुस्लिम औरतें* पुस्तक की ('बेजुबानी जुबान हो जाए' शीर्षक) भूमिका में स्त्रियों की भाषा का दो स्तरों पर विचार किया है : समाज में व्याप्त कथित आम भाषा (वस्तुतः पुरुष-भाषा) में स्त्री का व्यापक तौर पर पगी रहना, पर इसके साथ पितृसत्तात्मक सीमाओं में रहते हुए भी ख़ुद को अभिव्यक्त करने हेतु (सीमित स्तर पर ही सही) ज़ुबान के साथ देह की भी भाषा के नए सिरे से गठन हेतु लगातार (सचेत-अचेत रूप से) प्रयासरत रहना। पहले स्तर पर राजेंद्र यादव कहते हैं :

> विडबंना यह है कि जिस भाषा के साथ स्त्री सबसे अधिक एकाकार होती है और हमेशा 'चबर-चबर' करती है, वह भाषा भी उसकी अपनी नहीं होती। ... निजी मुहावरों के बावजूद स्त्री की अपनी कोई भाषा नहीं होती। वह भी मर्द की ही होती है जो स्त्री को शक्ति संपन्न होने का स्थायी भ्रम देती है। चूँकि भाषा में शक्ति-सत्ता के सारे मुहावरे और शब्द मर्दवादी होते हैं और जो स्त्री को दी जाने वाली गालियों, या अपमानजनक वक्तव्यों तक जाते हैं, स्त्री उन्हें ही अपनी भी भाषा बना लेती है : वह भी अपने बेटे को डाँटती है, 'क्या औरतों की तरह रो रहा है? तू क्यों डरेगा, तू क्या लड़की है?' चूड़ियाँ या साड़ी पहनने के ताने देने वाली औरत जब धड़ल्ले से 'मादरचोद', 'बहनचोद' जैसी गालियों का इस्तेमाल करती हैं तो उसे सपने में भी ध्यान नहीं होता कि वह अपना ही अपमान कर रही हैं। सुनते हैं कि पुलिस-ट्रेनिंग में स्त्रियों को भी मर्दानी गालियाँ देने का अभ्यास कराया जाता है ताकि अपराधी को उसकी हैसियत बताई जा सके ...मर्दों जैसी भाषा का इस्तेमाल करके स्त्री अपने 'ज़नानेपन' से मुक्त हो कर मर्दों जैसी ताक़तवर होने का प्रभाव डालती है : विशेषकर दूसरी औरतों पर। .... भाषा के माध्यम से स्त्री अपने-आप से टूट कर 'दूसरी' बनती है : वह स्त्री-वेश में पुरुष होती है .... स्त्री-विमर्श का सबसे जटिल पहलू यह है कि उसे पुरुष-भाषा के वर्चस्व में ही अपनी बात कहनी है, क्योंकि उसकी अपनी कोई भाषा नहीं है।[6]

परंतु, इसके साथ, यादव उस परिदृश्य को भी विस्तार से उपस्थित करते हैं, जिसमें इस भाषा के साये में जीते, साँस लेते, इसके साथ पूरी तरह रँग जाने के बावजूद, स्त्री पितृसत्तात्मक भय, दमन और जकड़नों के बीच, ख़ुद को अभिव्यक्त करने के लिए अपनी देह-भाषा को अचूक हथियार की तरह इस्तेमाल करना भी सीख जाती है। इसके साथ, वह संकेतों और प्रतीकों वाली अचूक भाषा भी ईजाद कर लेती है। साथ ही, निजी बातों को वह गीतों और स्वगत-

[5] पेनिलॉप एकर्ट और सैली मैकोनल-गिनेट (2003) : 158-160.

[6] राजेंद्र यादव (2008) : 11-12.

कथनों (और उसके उदात्तीकरण द्वारा 'आत्मकथा' लिखने) के रूप में भी व्यक्त करने लगती है, जिसे पुरुष 'विधवा-विलाप' या 'औरत की बड़बड़' कह कर उपेक्षित करते हैं। इस तरह, राजेंद्र यादव ने पितृसत्तात्मक जकड़ में पड़ी स्त्री द्वारा मुख्यतः बचाव और गौणतः प्रतिरोध (भले वह अप्रत्यक्ष रीति से हो) की चेतना के साथ भाषा-व्यवहार की बात कही है। ('प्रतिरोध' वाली बात को हम आगे 'स्त्री-अनुकूल भाषा' विषयक विचार के अन्तर्गत, और विस्तार करते हुए सामने लाएँगे।)

स्त्रियों की भाषा के संदर्भ में, हिंदी कवयित्री और स्त्रीविमर्शकार अनामिका के 'स्त्री का भाषाघर' नामक आलेख में एतद्विषयक उनके प्रतिपादनों को पढ़ना रोचक होगा :

> मर्दों की भाषा अमूमन, व्यापार-वाणिज्य की सरल-सपाट भाषा होती है। वाणिज्य, वणिकवृत्ति और राजकाज की अधिकारप्रमत्त भाषा : शुल्क, लेन-देन और ऊपरी सरोकारों की भाषा : 'शुष्को वृक्षः तिष्ठति अग्रे' वाली कामचलाऊ चलंत-फिरंत भाषा, आपाधापी की भाषा, रेलवे प्लेटफ़ॉर्म, कचहरी, बाज़ार, पंचायत, अस्पताल और दफ़्तर की भाषा, आपाधापी की भाषा। जिसे बतरस कहते हैं, उसका शहद तो औरतों के पास ही होता है। गुप्तजी ने 'आँचल में है दूध और आँखों में पानी' की बात कही थी, लेकिन बतरस के इस शहद की धारक भी स्त्रियाँ ही हैं। लोरियाँ, लोककथाएँ, संस्कार गीत, सब इसका साक्ष्य वहन करते हैं। और तो और, औरतों के रोने में भी संगीत है : बहुधा वे गाती हुई और बोलती हुई रोती हैं : रुदालियों का अपना इतिहास है। सामुदायिक रुदन की इस आत्यंतिक संगीत की भाषा में ज्वालामुखियों के फटने, समुद्र के हहाने, धरती के दरकने और बादलों की छाती फट जाने का आदि-नाद भी शामिल होता है।[7]

अनामिका के उक्त आलेख में कथ्य और शिल्प, दोनों स्तरों पर आलोचनात्मक टिप्पणी या वैचारिक स्थापना के बजाय भावोच्छ्वसित या काव्यात्मक उद्गार अधिक दिखलाई पड़ते हैं। उनकी बातों से 'पुरुष-भाषा' और 'स्त्री-भाषा' के बीच 'प्रयोजनमूलकता'और 'सौंदर्यमूलकता' का दृढ़ व्यवधान सा उपस्थित होता है। इसकी जड़ उन्हें कदाचित् पुरुष और स्त्री के जैविक व्यक्तित्व या आनुवंशिक भिन्नता में दिखलाई पड़ती है।[8] इस तरह, वे भी 'स्त्री-भाषा' और 'पुरुष-भाषा' में आत्यंतिक भेद की सैद्धांतिकी के साथ खड़ी नज़र आती हैं।

---

[7] अनामिका (2008) : 155, अभय कुमार दुबे (सं.) (2014), *हिंदी आधुनिकता : एक पुनर्विचार (खंड 1),* अखिल भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला-वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली.

[8] वही : 177. अनामिका संरचनावादियों की एक सिद्धि ('भाषिक संरचना का सीधा संबंध मनुष्य की यौन-अस्मिता है') का उल्लेख करने के बाद, उत्तर-संरचनावादियों (ख़ासकर नैंसी शोदोरॉव) की सिद्धि को कुछ यों प्रस्तुत करती हैं और उसके प्रति सहानुभूति रखती हैं — 'प्राक्-एडिपीय अवस्था के बाद मातृछवि से ख़ुद को अलग करने में जो तनाव लड़कों को झेलना पड़ता है, उसी से अब उनकी भाषा इतनी सख़्त, खुरदुरी और सपाट हो जाती है! विकास के उषाकाल में लगे आंतरिक झटके से लड़कियाँ साफ़ बच जाती हैं, क्योंकि उन्हें अपनी अनन्य से यानि माँ से अलग दीखने या अलग बोलने का कोई तनाव नहीं होता ! इसलिए, उनकी भाषा अधिक सहज, अंतरंग और प्रवाहपूर्ण होती है! उनकी भाषा किसी आंतरिक झटके, वियोग या कमी से प्रस्फुटित नहीं होती, इसलिए उच्छल भी ज़्यादा होती है.'

अन्यत्र भी उनका कहना है :

> भाषणधर्मिता पुरुष-भाषा का गुण है, पुरुष-भाषा जो मोनोलॉग की भाषा है, जो आदेश-निर्देश देती है, और प्रतिपक्ष की तरफ़ से कुछ सुनना नहीं चाहती। जो भाषा आप अपने पिताओं से सुनते आए होंगे, जो इंपरिटिव मोड की भाषा है, उसे प्रश्नांकित करती हुई जो उभरी है वह स्त्रियों की संवादात्मक भाषा है जिसमें कंधे पर हाथ रख कर दुख-सुख बतियाने का शऊर है। मैं हमेशा एक उदाहरण सोचती हूँ कि छाता ही ले जाना हुआ घर से, अगर घर से आप भीगते हुए निकल रहे हैं, तो पिता गरजेंगे कि अरे छाता नहीं लिया। माँ कहेगी, अरे छाता नहीं लिया। वह समुच्चयबोधक वाक्य बोलेगी और दौड़ते हुए आप को छाता दे आएगी। प्रश्नवाचक, विस्मयादिबोधक और समुच्चयबोधक तरल चिह्न हैं। इससे भरी होती है स्त्रियों की भाषा। वह कॉमा फुलस्टॉप की भाषा नहीं होती। इसीलिए वह ज़्यादा अंतरंग होती है, इसीलिए वह ज़्यादा तरह के स्रोतों से संवाद कर पाती है। इसीलिए वह 'तुमुल कोलाहल कलह में हृदय की बात रे मन' की तरह आप की स्मृति में दर्ज हो जाती है। स्त्रीभाषा की आधार-भूमि हैं स्मृतियाँ। चाहे वह जातीय स्मृति हो या व्यक्तिगत।[9]

समाजविज्ञानी और *साहित्य में अनामंत्रित* आलोचक अभय कुमार दुबे ने इन पंक्तियों में 'स्मृति' को स्त्री की भाषा और उसकी रचनाशीलता की एकांत विशेषता मानने का प्रतिवाद करते हुए कहा है कि 'यह चीज़ तो पुरुष के ऊपर भी उतनी ही लागू होती है, क्योंकि स्मृति के रचनात्मक इस्तेमाल के बिना पुरुष तो क्या, किसी क़िस्म का, कोई भी साहित्य, उसकी रचनाशीलता संभव नहीं है।'[10] 'पटरी से उतरी हुई औरतों का यूटोपिया' शीर्षक अपने महत्त्वपूर्ण आलेख में अभय कुमार दुबे अनामिका के उपन्यासों *दस द्वारे का पींजरा* और *तिनका तिनके पास* पर विचार करते हुए (भाषा के 'मैस्क्युलिन जेंडराइजेशन या मर्दानाकरण' के प्रतिक्रियास्वरूप?) नारीवादियों द्वारा किए जा रहे 'भाषा के (पुनः) जेंडरीकरण' का सवाल उठाते हैं। लेखक को इन उपन्यासों में (अनामिका के शब्दों में) 'सरस बोली-बानी की परंपरा' अथवा 'लोक-रस' से सराबोर उसी भाषा की वापसी होती दिखाई देती है, जिसके एक बड़े अंश को (अनामिका के अनुसार) परंपराप्रदत्त 'अश्लीलता' के प्रक्षालन करने के नाम पर 'राष्ट्रवादी आधुनिकता' भाषा से निष्कासित करने पर तुली रही है। सृजन-कर्म के दौरान किए जा रहे इस तरह के नारीवादी भाषा-अभ्यास को महत्त्वपूर्ण मानते हुए भी अभय जी उसे किसी हद तक 'भाषा के (पुनः) जेंडरीकरण' के संदर्भ में विश्लेषित करने के पक्ष में लगते हैं। उक्त आलेख में आईं ये पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :

> दरअसल नारीवादी सृजनशीलता के लिए भाषा का महत्त्व कुछ अलग तरह का है। स्त्रियों को किसी-न-किसी रूप में हमेशा ही अपने अलग कमरे की तलाश रहती है। भाषा के माध्यम से स्त्रियाँ केवल साहित्य नहीं रचतीं, वरन भाषा द्वारा प्रदत्त कमरे के एकांत में चली जाती हैं। जैसे

[9] अभय कुमार दुबे (सं.) (2014) : 119.

[10] वही.

ही स्त्री भाषा के कमरे में समय बिताना शुरू करती है, वह पाठकों को तो सम्बोधित करने के साथ-साथ मुख्यतः अपने-आप को संबोधित करने में तल्लीन हो जाती है।[11]
पुरुष की भाषा और स्त्री की भाषा में पहला अंतर तो यही है कि जिसका तिरस्कार पुरुष 'गॉसिप' कह कर करता है, वह स्त्री के लिए नित्य-प्रति होने वाला आपसी 'एक्सचेंज ऑफ़ डेटा' है, जिसमें मैस्क्युलिन जेंडर की कोई भागीदारी ही नहीं है। [12]

कुल मिलाकर यही कहना उचित होगा कि 'रचनात्मक खिलंदड़ापन'[13] से उत्फुल्ल भाषा में आकार लेतीं, अनामिका की अभ्युक्तियाँ न केवल राजेंद्र यादव के उद्धृत विचारों से बिल्कुल अलग सी लाइन पकड़ती हैं, बल्कि वह 'स्त्रीभाषा' (लिंग-बोली) के पूर्वोक्त चिंतकों से भी अधिक विचित्र हैं। उन चिंतकों में तो इस बात के कहीं-कहीं संकेत भी हैं कि स्त्रियों की कतिपय भाषिक विलक्षणताएँ सभ्यता में अब तक मौजूद रहे लिंग-भेद के प्रभाव के रूप में हो सकती हैं, लेकिन अनामिका समाजवैज्ञानिक जटिल यथार्थ से लगभग कट कर, पूर्णतः जैविक और मनोवैज्ञानिक धरातल पर पुरुष-भाषा के समांतर स्त्रीभाषा को खड़ा करने की काव्यात्मक कोशिश करती नज़र आती हैं, जिसमें सरलीकरण के अधिक ख़तरे मौजूद हैं।

पुराने भारतीय साहित्य में स्त्रीभाषा के संकेत

भारतीय वाङ्मय के आदिग्रंथ के रूप में बहुमानित ऋग्वेद में 'वाक्' (भाषा) की अर्थ-गूढ़ता और रहस्यमयता को लेकर एक चर्चित छंद है, जिसका भाव है कि मूढ़ लोग तो वाणी को देख कर भी नहीं देख पाते तथा सुन कर भी नहीं सुन पाते। परंतु, विद्वानों के समक्ष वाणी अपने को स्वयं ही प्रकट कर देती है जैसे सुंदर वस्त्रों से आवृत स्त्री अपने प्रेमी के समक्ष स्वयं को निरावृत कर देती है।[14] एक स्तर पर यह प्रेमल और मधुर दांपत्य से सुवासित लगता है, तो

---

[11] अभय कुमार दुबे (2018) : 150.

[12] वही : 174.

[13] अभय कुमार दुबे (सं.) (2014) : 119-20.

अभय कुमार दुबे : 'आप जिस स्त्रीभाषा की वकालत कर रही हैं वह डिस्करसिव फ़ॉर्म यहाँ मौजूद है. इस में एक बहुत रचनात्मक खिलंदड़ापन है ... इस में एक ख़ास तरह की वाक्य रचना है ... इस के अंदर हैबरमास भी आ जाते हैं, फ़हमीदा रियाज़ भी आ जाती हैं, रघुवंश का श्लोक भी है, घनानंद भी हैं, शोदरो भी हैं, इरिगेरी भी हैं ... लेकिन यह भाषा हम लोगों के लिए जो समाजविज्ञान की भाषा रचने में लगे हुए हैं, एक ख़ास तरह की चुनौती है. *अगर स्त्रियाँ विमर्शी हिंदी विकसित करने की प्रक्रिया में एक अलग तरह की हिंदी विकसित कर सकती हैं, तो मुझे लगता है कि उन का बहुत बड़ा योगदान होगा.'* (ज़ोर हमारा)

[14] श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (भाष्यकार, 1985) : 146.

ऋषि : बृहस्पतिरांगिरसः देवता : ज्ञानम्. छंद : त्रिष्टुप्.

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्.

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः.. (ऋग्वेद, 10/71/4)

सातवलेकर द्वारा कृत अनुवाद : एक तो वाणी को मन से देखता हुआ भी नहीं अज्ञानता के कारण देख सकता; और दूसरा इस वाणी को सुन कर भी (अर्थ न समझने के कारण) नहीं सुन सकता. वह वाणी किसी के पास अपने ज्ञानरूप को स्वयं विशेष

दूसरे स्तर पर विवाह-संस्था में पुरुष और स्त्री के सोपानीकृत संबंध को संकेतित करते हुए, 'प्रेम' की आड़ में स्त्री के यौन-वस्तुकरण की गंध से सराबोर (यानि, पितृसत्तात्मक उपमान-विधान से पूर्ण) भी!

सुकुमार सेन ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक में वैदिक कवयित्रियों (ऋषिकाओं)[15] द्वारा रचित

प्रकार से इस प्रकार प्रकट करती है, जैसे पति के सुख के लिए सुंदर वस्त्र परिधान कर पत्नी अपना रमणीय मोहमय शरीर पति के पास प्रकट करती है.

[15] सुकुमार सेन की उक्त पुस्तक (पृष्ठ 65) तथा अन्य स्रोतों के अनुसार, 'ऋग्वेद' के निम्नांकित सूक्तों और ऋचाओं की रचना का श्रेय कवयित्रियों को दिया जाता है: :

1. वाक् आंभृणी : दशम मंडल का 125 वाँ सूक्त
2. यमी वैवस्वती : दशम मंडल में 10.1,3,5,6,11,13
3. रोमशा ब्रह्मवादिनी : प्रथम मंडल के 126.7
4. लोपामुद्रा : प्रथम मंडल का 179 वाँ सूक्त
5. विश्ववारा : पंचम मंडल का 28 वाँ सूक्त
6. अपाला आत्रेयी : अष्टम मंडल का 91 वाँ सूक्त
7. घोषा काक्षीवती : दशम मंडल का 39 वाँ तथा 40 वाँ सूक्त
8. सूर्या सावित्री : दशम मंडल का 85 वाँ सूक्त
9. सरमा : दशम मंडल में 108.2,4,6,8,10,18
10. उर्वशी : दशम मंडल में 95.2,4,5,7,11,13,15,16
11. इंद्राणी : दशम मंडल में 86.2,4,6,9,15,16,17 और 145 वाँ सूक्त
12. शची पौलोमी : दशम मंडल का 159 वाँ सूक्त (आत्मस्तुति).

इनके साथ, 8.55.2-8 और 9.112 भी जोड़े जा सकते हैं.

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (भाष्यकार, 1985) : 82-83, 269

यहाँ नमूने के तौर पर *ऋग्वेद* की घोषा काक्षीवती और वाक् आम्भृणी : इन दो कवयित्रियों की निम्नांकित ऋचाएँ प्रस्तुत की जा रही हैं:-

(क) ऋषि : घोषा काक्षीवती, देवता : अश्विनीकुमार, छंद -जगती

जनिष्ट योषा पतयत् कनीनको वि चारुहन् वीरुधो दंसना अनु. आस्मै रीयंते निवनेव सिंधवो अस्मा अह्ने भवति तत् पतित्वनम् ॥ जीवं रुदंतिवि मयंति अध्वरे दीर्घामनु प्रसितिं दीधियुर्नरः. वामं पितृभ्यो य इदं समेरिरे मयः पतिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ : ऋग्वेद, 10/40/9-10.(ज़ोर हमारा)

सातवलेकर-कृत अनुवाद : हे अश्विद्वय! तुम्हारी कृपा से यह घोषा नारी-लक्षण प्राप्त करके सौभाग्यवती हुई; इसे कन्येच्छुक पति प्राप्त होवे; इसलिए तुम्हारी कृपा से वृष्टि होने के कारण उत्तम औषधियाँ-शस्य आदि उत्पन्न होवें; इस तेजस्वी पुरुष की ओर निम्नाभिमुखी होकर नदियाँ भी बह रही हैं; वह रोगरहित हैं; शत्रुओं से न मारे जाने वाले इसको तब ही पतित्व प्राप्त होता है ... 9॥

हे अश्विद्वय! जो लोग अपनी स्त्री की प्राणरक्षा के लिए रोते हैं; और उन स्त्रियों को यज्ञकार्य में नियुक्त करते हैं; और उनका अपनी बाँहों से प्रदीर्घ आलिंगन करते हैं; और वे अपने पति के लिए उत्तम संतान उत्पन्न करती हैं; और स्त्रियाँ भी पति को आलिंगन देकर उसको तथा स्वयं को सुख प्राप्त करती हैं ... 10॥

(ख) ऋषि : वाक् आम्भृणी, देवता : आत्मा, छंद : त्रिष्टुप्

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टंदेवेभिरुत मानुषेभिः. यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ : ऋग्वेद, 10/125/5

सातवलेकर कृत अनुवाद : मैं स्वयं ही इस ज्ञान का उपदेश करती हूँ, जिसको देव और मनुष्य श्रद्धापूर्वक मनन करते हैं; अनुभव करते हैं. मैं जिसको चाहती हूँ, उसको श्रेष्ठ बलवान् करती हूँ. उसको ही स्तोता : ब्रह्मा, उसको ही ऋषि और उसको ही उत्तम बुद्धिमान् करती हूँ. (ज़ोर हमारा)

'श्रीदुर्गासप्तशती' (– गीताप्रेस, गोरखपुर) में 'ऋग्वेद' दशम मंडल का 125 वाँ सूक्त 'देवीसूक्त' के नाम से सम्मिलित किया

छंदों में से कुछ ऐसे शब्द (संज्ञा, विशेषण आदि) ढूँढ़ कर रखे हैं, जो आगे उल्लिखित स्थलों के सिवा वैदिक साहित्य में अन्यत्र प्रायः नहीं मिलते। इन्हें वे वैदिक के अंतर्गत 'स्त्रीभाषा' ('लिंग-बोली') के संदिग्ध उदाहरण मानते हैं। हालाँकि उनके आधार पर किसी निष्कर्ष पर पहुँचने के वे पक्षधर नहीं हैं। उनके अनुसार शास्त्रीय संस्कृत में लिंग-बोली निशान न के बराबर हैं, पर मध्यकालीन आर्यभाषा (प्राकृत) ऐसे उदाहरणों से भरी हुई है। उनके द्वारा प्रस्तुत कुछ उल्लेख्य वैदिक उदाहरण[16] निम्नांकित हैं :

* 'ऋग्वेद' में : गृहपत्नी (10.85.26), शरारू (भ्रष्ट करने वाला,10.86.9), अदुरमंगली (जिसके आने से अमंगल न हो अर्थात् नववधू,10.59.2), तल्पशीवरी (बिस्तर पर लेटी स्त्री,7.55.88), पितृषद् (माँ-बाप के साथ रहने वाली यानि अविवाहिता कन्या, इस शब्द का प्रयोग अवमाननासूचक अर्थ में हुआ है, 1.117.7), विद्वला (चालाक या धूर्त्त स्त्री,10.159.1), सुभसत्तरा (अत्यधिक आकर्षक नितंबों वाली,10.86.6), सुयाशुतरा (मैथुन क्रिया में अधिक सक्षम,10.86.6), अमाजुर् (अपने माँ-बाप के साथ रहने वाली विगतयौवना कन्या,'ऋग्वेद' में तीन बार प्रयुक्त 2.16.7; 8.21.15 और 10.39.33), न्योचनी (सौम्या, मनोहरा, 10.85.6), 'वत'! (विस्मयादिबोधक शब्द : अच्छा!, हाय!, 10.10.30)

* 'अथर्ववेद' में : अवतोका (वह स्त्री जिसका गर्भपात होता है, 8.6.9), कमल (वासनापूर्ण, 8.6.9), प्रेणि (प्रेम, 6.89.1), स्मर (प्रेमाकर्षण, 6.130.1), संभल (विवाह के लिए फुसलाने वाला, 2.36)

इनके साथ, सुकुमार सेन ने शास्त्रीय संस्कृत से भी दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं, जिनका प्रयोग केवल स्त्रियों द्वारा होता है : 'आलि/आली' (महिला मित्र, मध्यकालीन आर्यभाषा में भी प्रयुक्त) और 'उलुलि/उलुलु' (मांगलिक अवसरों पर स्त्रियों के रुदन का अनुकरणात्मक शब्द) जैसे शब्द मिलते हैं। 'ऋग्वेद' में सिर्फ़ एक बार प्रयुक्त उपर्युक्त 'वत' शब्द भी शास्त्रीय संस्कृत में बहुत बार आया है।

इसी संदर्भ में, संस्कृत नाटकों की उस विलक्षण प्रवृत्ति की ओर दृष्टिपात करना उचित होगा, जिसके तहत पुरुष पात्र तो संस्कृत बोलते हैं, परंतु (कुछ दैवी/आर्ष आभा से मंडित स्त्रियों के सिवा बाक़ी) स्त्रियाँ 'प्राकृत' बोलती हैं। विचारकों का एक बड़ा वर्ग इस प्रवृत्ति को भारतीय समाज में भाषा-विशेष के प्रयोग के अधिकार को लैंगिक संदर्भ में सीमित करने के रूप में व्याख्यायित करता है, जैसा कि ऑटो जेस्पर्सन ने कहा है— 'निश्चित रूप से इसका कारण यह है कि स्त्रियों की सामाजिक स्थिति इतनी निकृष्ट थी कि उनका स्थान निम्न दर्जे के

गया है, जिसके अनुवादक रामनारायणदत्त शास्त्री 'राम' के कथनानुसार, 'महर्षि अम्भृण की कन्या का नाम वाक् था. वह बड़ी ब्रह्मज्ञानिनी थी. उसने देवी के साथ अभिन्नता प्राप्त कर ली थी. उसी के ये उद्गार हैं.' उन्होंने उक्त मंत्र का अर्थ इस प्रकार किया है : 'मैं स्वयं ही देवताओं और मनुष्यों द्वारा सेवित इस दुर्लभ तत्त्व का वर्णन करती हूँ. मैं जिस-जिस पुरुष की रक्षा करना चाहती हूँ, उस-उस को सब की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली बना देती हूँ. उसी को सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा, परोक्ष ज्ञान संपन्न ऋषि तथा उत्तम मेधा से युक्त बनाती हूँ'.

[16] सुकुमार सेन (2009) : 60-65.

पुरुषों के तुल्य ही था एवं उस उच्च संस्कृति में उनकी साझेदारी नहीं थी जिस पर परिमार्जित भाषा बोलने वाले कुछ चुने हुए लोगों के किसी छोटे से वर्ग का विशेषाधिकार था।'[17]

कालिदास, राजशेखर, भवभूति, हर्ष आदि के संस्कृत-नाटकों के प्राकृत अंशों, *थेरीगाथा* व *गाथासत्तसई* (हाल) के साथ वररुचि और हेमचंद्र के व्याकरणों की प्राकृत पारिभाषिक शब्दावलियों में सुकुमार सेन को बड़ी मात्रा में ऐसे शब्द और लोकोक्तिमूलक उद्गार मिले हैं, जिनका संबंध उनके अनुसार स्पष्टतः स्त्रीभाषा से है।[18] उनमें से कुछ उल्लेखनीय प्रयोग निम्नांकित हैं :

अणुसूआ (विकसित गर्भावस्था में कोई स्त्री), अक्कसाला (हल्के नशे की हालत में कोई स्त्री), केली (क्रीड़ा), अणडो/अणाडो (रखेल), अहिविण्णा (कोई स्त्री जिसके जीवन में बाद में सौत आती है), आनंदवडा (संस्कृत 'आनंदपट', प्रथम मासिक धर्म के दौरान कन्या का वस्त्र), आवि (प्रसव-पीड़ा), साहुली (स्त्री-मित्र), कोलीण (बुरी बातचीत), गोवी (बच्ची), कोट्टवी (नग्न स्त्री), इंदमहो (अब्याहता स्त्री का पुत्र), पणामणिआ (स्त्री का स्त्री के प्रति प्रेम), छिण्णालो/छिण्णो (चरित्रहीन पुरुष), पीलुआ (उम्र में छोटी), पुआ/पुआइनी (विक्षिप्त स्त्री, प्रेतात्मा-ग्रस्त स्त्री), बुंदिनी (अविवाहिता कन्याओं का झुंड), बाउल्लअ (गुड़िया), वरैत्तो (नवविवाहित युवक), वहुहाडिनी (दूसरी पत्नी), संपत्तिआ (कन्या शिशु), हलहलअ (चिंता), अपज्जिआ (पड़ोसन), ओलैनी (प्रियतमा), छेआ (हाज़िरजवाब स्त्री), कंडज्जुआ (अति साधारण लड़की), अक्का (माता), अज्जुका (माता, 'प्रियदर्शिका' नाटक में), अत्ता (माता, बड़ी बहन, बुआ, सास), अज्जू (सास), अण्णी (ननद, बुआ, देवरानी), अम्मा (संस्कृत 'अम्बा', माता), अल्ला (माता), अब्बा सुब्बिआ (माता), पुफ्फा (ननद), भाउज्जा (भाभी),भाओ (बड़ी बहन के पति), मादलिआ (माता, मौसी), मामिका (छोटी माता, '*थेरीगाथा*', 207), वहुब्बा (छोटी सास), वहुमाआ ('बहू' को स्नेह/आदर में 'वधुमाता' कहा जाता होगा, *गाथासत्तसई*, 6.7, बांग्ला में 'बोउमाँ'), सभरिआ (सौत, संस्कृत में 'सभार्या', *थेरीगाथा*), अण्णओ / एक्कघरिल्ल / छेओ / दुद्दमो (देवर) आदि।

---

[17] सुकुमार सेन (2009) : 66.

सुकुमार सेन ने जेस्पर्सन की 'लैंग्वेज: इट्स नेचर, डेवलपमेंट ऐंड ओरिजिन' (1928, प्रथम संस्करण का तीसरा पुनर्मुद्रण) नामक किताब (पृष्ठ 241) का उक्त मत उद्धृत कर, उससे घोर असहमति व्यक्त की है. इस संबंध में उनके वितर्क इस प्रकार हैं:–

1) 'सट्टक' नामक श्रेणी के नाटकों में सारे पात्र प्राकृत बोलते हैं. जैसे : 'कर्पूरमंजरी' (राजशेखर).

2) 'भाण' नामक एकालाप अभिनय में सभी पात्र संस्कृत बोलते हैं.

3) तपस्विनियों एवं भिक्षुणियों, साथ ही नारी के रूप में मानवीकृत सद्गुणों (लाक्षणिक नाटकों में) की वाणी प्राकृत के स्थान पर संस्कृत है. जैसे : मध्य एशिया से प्राप्त अश्वघोष के नाट्यखंडों में बुद्धि, धृति, कीर्ति नामक पात्रों की भाषा संस्कृत ही है. 'प्रबोधचंद्रोदय' में शांति, श्रद्धा, क्षमा आदि की भाषा संस्कृत है, जबकि रति, मति, तृष्णा आदि की भाषा प्राकृत है.

4) संस्कृत की तुलना में प्राकृत भाषा के अधिक कर्णप्रिय एवं सुरीली होने के कारण नाटकों में स्त्री पात्र (नायिकाएँ एवं उच्चवर्गीय स्त्रियाँ) प्राकृत बोलती हैं.

[18] सुकुमार सेन (2009) : 66-73.

सुकुमार सेन के अनुसार, 'साह' (बोलना) क्रिया का प्रयोग *गाथासत्तसई* में केवल स्त्रियों की भाषा में होता था, परंतु अन्यत्र इसका प्रयोग इतना सीमित नहीं था। उनके अनुसार, स्त्रियों की भाषा में 'खाना' क्रिया समस्त भारतीय आर्यभाषा में 'खोने' के अर्थ में मुहावरे की तरह आता था : 'साज्ज सब्बानि खादित्वा सत्ता पुत्तानि ब्राह्मणि। वासेट्ठि केन वाण्णेन न बाल्हम् परितप्पसि' (सात बच्चों को खाने (खोने) के बाद ओ वसेट्ठि ब्राह्मणी! तुम्हें आज पश्चात्ताप क्यों नहीं?, *थेरीगाथा*, 313) उनकी उक्त पुस्तक में मध्यकालीन आर्यभाषा से कुछ पूरक/तकियाकलाम शब्द भी इकट्ठे किए गए हैं, जो महिलाओं के बीच की आपसी मैत्री में प्रयुक्त होते थे। जैसे, मामी (*गाथासत्तसई*), हाला, हाले! अम्मो, अम्हो, अम्माहे! (तीनों प्रसन्नता व आश्चर्य/विस्मय व्यक्त करने वाले शब्द), ऊ (अप्रसन्नता व आश्चर्य व्यक्त करने हेतु, हेमचंद्र, 2.199), अलाहि (= दूर हटो, गाहासत्तसई), थू (= छी!, थू निलज्जो, हेमचंद्र, 2.200), हँजे/हण्डे (= निम्न वर्ग की स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त होने वाला संबोधन), हद्दी, हद्धि/हद्धी (दुःख प्रकट करने हेतु प्रयुक्त, संस्कृत 'हा धिक्!') आदि। इनके अलावा, संस्कृत-नाटकों के स्त्री पात्रों की भाषा से कुछ लोकोक्तिमूलक अभिव्यक्तियाँ भी उक्त पुस्तक में संकलित की गई हैं। जैसे, 'को जुण्णमँजरं कँजिरेण वेआरिउँ तरै' (= खट्टी दलिया से बूढ़ी बिल्ली को कौन ललचाए, *गाथासत्तसई*, 3-86),'किं दद्दुरा वाहरंति ति देवो पुढविं वारिसिंधु विसुमरदि' (= मेढ़क के टर्र-टों से क्या देवता जल बरसाना बंद कर देंगे?, *मालविकाग्निमत्रम्*) आदि।

रेख़्ती में स्त्री-भाषा

भारतीय साहित्य में स्त्री-भाषा के स्रोतों की यह चर्चा शायद अधूरी रहेगी, यदि हम उर्दू-लेखन में प्रयुक्त 'रेख़्ती' का उल्लेख न करें। 'रेख़्ती' के बारे में कहा जाता है कि 18वीं सदी (ई.) के अंत में लखनऊ में जन्मी उर्दू कविता की एक शैली है, जिसमें स्त्रियों के निजी जीवन से संबंध रखने वाली बातें : पारिवारिक जीवन में स्त्री की वेदना, पति की बेवफ़ाई, घर वालों के व्यवहार आदि के साथ प्रेम या यौन-प्रसंग आदि : स्त्रियों की ही बोलचाल (स्थानीय शब्दावली, मुहावरे, बलाघात आदि, जो अपेक्षाकृत स्त्री-समाज में अधिक प्रचलित थे) में चित्रित की जाती थीं।[19] इस तरह की रचनाओं की भाषा तत्कालीन कथित 'सभ्य' और 'मानक' उर्दू से कुछ हट कर थी। 'रेख़्ती' के अंतर्गत, प्रेम-प्रसंगों से संबद्ध कई चित्रणों पर अकसर भाषाई 'अश्लीलता' का आरोप भी लगते रहा है। कुछ लोगों का विचार है कि 'रेख्ती' उर्दू-कविता का अशिष्ट, वीभत्स और छिछोरापन से भरा रूप है, जिसमें जान-बूझ कर वासनापूर्ण भावों को प्रकट करने हेतु हरम की भाषा का उपयोग किया गया था और जिसका अभिप्राय लोगों को हँसाने और कामोत्तेजना के सिवा और कुछ नहीं था। सआदत

[19] सैयद एहतेशाम हुसैन (2002) : 284.

'स्त्रियों की भाषा में स्त्रियों ही के संबंध में जो कविताएँ लिखी गई हैं, उनको 'रेख़्ती' कहते हैं. इनमें स्त्रियों के पारिवारिक जीवन और सामाजिक बंधनों का वर्णन और कभी अश्लील वर्णन होता है'.

यार खाँ 'रंगीन (1756-1835), इंशाअल्ला खाँ 'इंशा' (1752-1817), मीर यार अली 'जान' (मृत्यु संभवतः 1897), मोहसिन खान मोहसिन आदि 'रेख़्ती' के उल्लेखनीय रचनाकार रहे हैं। 'रंगीन' का दावा है कि इस तरह की काव्य-शैली का प्रारंभ ख़ुद उन्होंने किया है। वैसे इस ढंग की रचनाओं की प्राप्ति इनसे क़रीब डेढ़ सौ साल पहले ही दक्खिनी कविता में दिखने लगती है और कुछ लोग मानते भी हैं कि सैयद शाह हाशिम के चेले, बीजापुर-निवासी सैयद मीराँ 'हाशमी' (मृत्यु संभवतः 1697) ही 'रेख़्ती' के प्रवर्तक हैं, जैसा कि चौधरी मुहम्मद नईम ने एक वक्तव्य में माना है।[20] यह विडबंना ही है कि उर्दू-कविता का जनानी रूप कही जाने वाली 'रेख़्ती' के सारे रचनाकार पुरुष थे। फिर भी, ऐसा मानना शायद अनुचित नहीं होगा कि सामंती जकड़बंदी वाले काल में हर तरह से ओझल रहे स्त्री-समाज के अनुभवों को (जिनमें से कुछ हद तक उनके साथ हो रहे भेदभाव, शोषण, उनकी घरेलू घुटन वाले अनुभव भी शामिल थे) 'पुरुष-दृष्टि से ही सही', किसी हद तक उजागर करने की दृष्टि से उनका ऐतिहासिक महत्त्व है। इसके साथ, वे रचनाएँ मुस्लिम समाज की 'सात पर्दों में क़ैद' औरतों की भाषाई प्रवृत्तियों (जिन्हें कुछ लोग 'बेगमाती ज़ुबान' कहते हैं) का भी कुछ अता-पता तो देती ही हैं।[21]

---

[20] अभय कुमार दुबे (सं.), 2014) : 215, 219.

उक्त पुस्तक में संकलित 'बेगमाती ज़ुबान या औरतों की ज़ुबान' शीर्षक वक्तव्य में चौधरी मुहम्मद नईम का विचार है कि 'रंगीन का यह दावा ग़लत था ... क्योंकि इससे पहले इससे मिलती-जुलती चीज़ दक्खन में लिखी जा चुकी थी. हाशमी यह कर चुके थे बीजापुर में. और फिर सादत यार ख़ाँ ने एक ग्लॉसरी भी प्रोड्यूस की थी औरतों की ज़ुबान की, वह भी चुराई हुई थी. वह सिराजुद्दीन ख़ाँ आरज़ू की थी.' उक्त वक्तव्य में नईम ने यह भी कहा है कि रंगीन अपने दीवान की शुरुआत में यह भी दावा करते हैं कि औरतों की ज़ुबान उन्होंने नयी दिल्ली की ख़ानगियों (जिस्म का धंधा करने वाली औरतों) की सोहबत में सीखी है, पर नईम उनके इस दावे को भी संदिग्ध मानते हैं.

नईम ने आगे 1857 के बाद आए नज़ीर मुहम्मद के उपन्यास *मिरातुल-उरूस* (असग़री-अकबरी की कहानी) में बुरे और अच्छे चरित्र के रूप में प्रस्तुत दो बहनों : क्रमशः अकबरी और असग़री : में बातचीत का संदर्भ दिया है, जिसके अनुसार 'बुरी' की ज़ुबान बड़ी मुहावरे वाली है, जिसमें 'रेख़्ती' वाली सारी बातें मिलती हैं, जिसे औरतों की ज़ुबान कहा जाता है. वह ज़ुबान नसीबन नाम की नौकरानी से मिलती है. 'अच्छी' की ज़ुबान में मुहावरे बहुत कम हैं, और उसकी शब्दावली बहुत ज़्यादा मर्द किरदारों (उसके शौहर और बाप) वाली ही है. नईम साहित्य-रचना की इस प्रवृत्ति पर टिप्पणी करते हैं : 'औरतों की ज़ुबान को एकबारगी आपने कनेक्ट कर दिया था बैड करेक्टर से, अनैतिकता से और वह उसकी सिग्निफ़ायर बन गई थी. गाली बकने, गुस्सा करने और सिवाय अंधविश्वास के उसके भीतर कुछ देखा नहीं जाता था.'

[21] https://rekhta.org/poets, दि. 13.02.20, 1 बजे (अपराह्न) देखा गया.

रेख़्ती कविता के नमूने के तौर पर उक्त वेबसाइट से चुने हुए कुछ अंश निम्नलिखित हैं :–

सआदत यार ख़ाँ रंगीन:

> वो लगाता ही नहीं छाती को हाथ। अपनी छाती मैं मरोड़ूँ किस तरह ॥
>
> या रब शब-ए-जुदाई तो हरगिज़ न हो नसीब। बंदी को यूँ जो चाहे तो कोल्हू में पेल डाल॥
>
> होगा जो उसका वस्ल तो थल बैठियो रे जी। ये हिज्र के जो दिन हैं तो अब इनको झेल डाल॥
>
> नींद आती नहीं कमबख़्त दिवानी आ जा। अपनी बीती कोई कह आज कहानी आ जा॥ हाथ पर तेरे मूए किस के है छल्ले का दाग़। दी है ये किस ने तुझे अपनी निशानी आ जा॥ ... बाल माथे के जो डोरे से सिए हैं तू ने। शक्ल लगती है तिरी आज डरानी आ जा॥
>
> टीस पेडू में उठी ऊही मिरी जान गई। मत सता मुझ को दो-गाना तिरे क़ुर्बान गई॥

व्याकरण और स्त्री

समाज में व्याप्त स्त्री-पुरुष विभेद की छाया केवल कथ्य और उसका सम्प्रेषण करने वाली इकाइयों (शब्दावली) या उसकी भाषाई बुनावट तक सीमित नहीं रही है, अपितु वह भाषाओं की भाव-प्रकृति यानि व्याकरणिक रूप-संरचना तक को अपने आगोश में ले चुकी है, जिसके कारण उनमें 'लिंग' का भेद गहरे रूप में पैठा हुआ मिलता है, जो कुछ भाषाओं में कम तो कुछ में अधिक दिखलाई पड़ता है। यहाँ हमारा विश्लेषण मुख्यतः योगात्मक भाषाओं [22] के संदर्भ में हो रहा है। (अयोगात्मक भाषाओं का चूँकि उस तरह का रूप-

---

इंशा अल्ला ख़ान :

चोटी पे तिरी साँप की है लहर दो-गाना। खाती हूँ तिरे वास्ते मैं ज़हर दो-गाना॥

लहर में चोटी के तेरे डर के मारे काँप काँप। चौंक-चौंक उठती हूँ मैं रातों को कह कर साँप साँप॥

अपना चौंडा न हिला दुम न फुला ऐ बुलबुल। कह दिया मैंने नहीं तुझ को कि हाँ री मत चीख़॥

मीर यार अली 'जान' :

मुझ से किया निगोड़े ने बी रात रात भर. तो भी मिटी न उस मुए शैतान की हवस॥

गई थी देखने बाजी मैं सूरज-कुंड का मेला. बची हूँ पिसते पिसते मर्दुओं का ये हुआ रेला॥ लगे धक्के पे धक्के ऐसे अंगिया हो गई पुर्ज़े। मिरी पत्थर की छाती थी सितम मैंने जो ये झेला॥ .... हमेशा से नहीं कुछ मर्द की रंडी को ख़्वाहिश है। मिरी नारंगियों से आप का बेहतर नहीं केला॥

माँ बाप का ख़याल तो दिल से उठा दिया। ऐ बाजी आज कल की हैं सब लड़कियाँ ख़राब॥

वबाल जीना है दम उलझता है क्या करूँ बाल मैं बढ़ा कर। जो अपने आशिक़ थे चल बसे ऊही मुझ को जंजाल में फँसा कर॥ निकाही-ब्याही को छोड़ बैठे मताई रंडी को घर में डाला। बनाया साहब इमाम-बाड़ा ख़ुदा की मस्जिद को तुमने ढा कर॥

आबरू लेने का रहता है ये तालिब रात दिन। नस-कटा ख़्वाजा-सरा बैरी मिरा मतलूब है॥

मोहसिन ख़ान मोहसिन :

मुँह-लगे भड़वे बनाएँगे न क्या क्या अबतर। चौक जा जा के न हो जाएँगे क्या मेरे बाद॥

ख़ुश हो के सास ने कहा दुल्हन से रश्क-ए-गुल। दम से तुम्हारे घर मिरा आबाद है बहुत॥

रखते लाला हैं रंडियाँ घर में। घर की बीवी के सामने ये ग़ज़ब॥

उक्त रचनाओं में कई जगहों पर 'रंडी' शब्द आया है. पर, पूर्व-संदर्भित (संदर्भ संख्या 74) विचारक चौधरी मुहम्मद नईम का उक्त वक्तव्य में यह भी मानना है कि 'रंडी उस ज़माने में औरत के अर्थ में भी इस्तेमाल होता था, उसका लाज़िमी अर्थ वेश्या से नहीं था.' (अभय कुमार दुबे द्वारा सम्पादित '*हिंदी आधुनिकता: एक पुनर्विचार*, खंड 1' से, पृष्ठ संख्या 216)

[22] जिस भाषा में व्याकरणिक संबंधकारी तत्त्व या संबंध-तत्त्व/रचना-तत्त्व (जैसे : उपसर्ग, प्रत्यय, विभक्ति/परसर्ग/ अंतःसर्ग आदि) नहीं होते या प्रकट रूप से दिखलाई नहीं पड़ते और बिना इन के प्रत्यक्ष योग के ही वाक्य अथवा वाक्यगत (शब्दों के आपसी) व्याकरणिक संबंधों की रचना होती है, उसे अयोगात्मक भाषा कहते हैं. अयोगात्मक भाषा के शब्द प्रायः एक अक्षर (सिलेबल) के होते हैं. ऐसी भाषा का हर शब्द स्वतंत्र और अपरिवर्ती इकाई के रूप में होता है. मतलब, उसमें किसी शब्द से (उपसर्ग-प्रत्यय-समास आदि के संयोग द्वारा) किसी अन्य शब्द का निर्माण नहीं होता और न ही किसी शब्द के वाक्य में प्रयुक्त होने पर उसमें रूप-विकार आता है. अयोगात्मक वर्ग की प्रतिनिधि भाषा चीनी है. इसके अतिरिक्त सूडानी, मलय, अनामी, बर्मी, थाई (स्यामी), तिब्बती (भोट), मैतै (मेईथेई, मणिपुर), गारो, बोड़ो, नागा, नेवारी आदि भी इसी वर्ग में हैं.

जिस भाषा में उक्त व्याकरणिक संबंधकारी तत्त्वों के प्रत्यक्ष योग से शब्दों की व्युत्पत्ति और वाक्य अथवा वाक्यगत (शब्दों के आपसी) व्याकरणिक संबंधों की रचना होती है, उसे योगात्मक भाषा कहते हैं. जहाँ किसी 'अयोगात्मक' भाषा के सभी शब्दों का किन्हीं अन्य शब्दों से व्युत्पत्ति या रूप-रचना संबंधी रिश्ता नहीं होता, वहीं योगात्मक भाषाओं में बहुतेरे शब्द कुछ मूल घटकों (प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग आदि) के ('प्रकृति-प्रत्यय-प्रक्रिया' या 'समास-प्रक्रिया' के तहत हुए) संयोग के परिणाम

रचनापरक व्याकरण नहीं होता, अतः फ़िलहाल इस दृष्टि से उन पर विचार को हम यहाँ लगभग छोड़ कर चल रहे हैं।)[23]

कोई भाषा अंततः कुछ ख़ास नियमों के अनुसार बनी व्यवस्था होती है; जिसे भाषा का 'अंतर्निहित व्याकरण' कहा जा सकता है। लेकिन, आम तौर पर 'व्याकरण' को इस अर्थ में ग्रहण नहीं किया जाता, बल्कि भाषा-निहित 'व्याकरण' (भाषाई व्यवस्था, जो प्राकृतिक जैसी दिखती है) को उद्घाटित और विश्लेषित करने या उस विश्लेषण को पुस्तकीय रूप देने का प्रयत्न अथवा पुस्तकीय रूप में निबद्ध वस्तु-विशेष (शास्त्र) को ही सामान्यतः 'व्याकरण' कहा जाता है। इस 'व्याकरण' का उद्घाटन या रचना जिन प्रबुद्ध लोगों द्वारा किया जाता है, वे भाषा-अध्येता या वैयाकरण कहलाते हैं। यहाँ हम 'व्याकरण' शब्द को दोनो अर्थों में लेकर चल रहे हैं।

'व्याकरण' के संबंध में यह आम धारणा है कि वह लिंग, जाति, नस्ल, पंथ (मज़हब), क्षेत्र आदि संकीर्णताओं से निरपेक्ष, भाषा का विश्लेषण या विवेचन भर है, यानि वह एक वैज्ञानिक अवधारणा है। इस आधार पर ही व्याकरण से यह अपेक्षा की जाती है कि वह भाषा में प्रयुक्त पदों या कार्यरत संरचनाओं के साथ एकरूपता का व्यवहार करे, भले वे किसी स्रोत से आए हों। पर, इस कसौटी पर वह पूरी तरह खरा नहीं उतर सका है। बाक़ी संदर्भों में तो वह कमोबेश तटस्थवत् आचरण कर भी ले, पर उसकी 'लिंग' नामक संकल्पना एक गहरी समस्या है। हम यहाँ हिंदी-व्याकरण के विशेष संदर्भ में बात कर रहे हैं और यह दिखलाने का प्रयास कर रहे हैं कि उस पर समाज में व्याप्त तमाम तरह के स्तरीकरणों में से अहम स्त्री-पुरुष विभेद ('लिंग' या 'जेंडर') नामक पहलू का गहरा प्रभाव देखने में आता है। सत्य तो यह है कि हिंदी-व्याकरण का 'लिंग'-प्रकरण सामाजिक जेंडर-भेद की छाया है। साथ ही, यह भी सत्य है कि पितृसत्ताई मानसिकता के शिकार वैयाकरणों ने इस छाया को गहनतर बनाने में बड़ी भूमिका निभाई है।

जिस तरह भारोपीय परिवार की कई भाषाओं में शब्दों की (पुल्लिंग/स्त्रीलिंग/नपुंसक) 'लिंग' नामक (रूप-भेदक) कोटि मौजूद है; उसी तरह कई अन्य भाषाओं में 'सजीव'-'निर्जीव' या 'वृहद्'-'लघु' (आकार) आदि आधारों पर (रूप-भेदक) कोटियाँ मौजूद हैं। इन

होते हैं; साथ ही वाक्य में शब्दों का प्रयोग रचना-तत्त्वों या संबंध-तत्त्वों (विभक्ति/परसर्ग/अंतःसर्ग आदि) की प्रत्यक्ष संलग्नता के ज़रिये, अकसर रूप-विकार के साथ होता है. दुनिया के अधिकतर हिस्सों में मौजूद भाषाएँ योगात्मक ही हैं. हिंदी, संस्कृत, अंग्रेज़ी, तमिल, संथाली आदि इसके उदाहरण हैं.

[23] गुणाकर मुळे (2003) : 65.

अयोगात्मक भाषाओं की प्रतिनिधि रूप में चर्चित 'चीनी' भाषा जिस लिपि में लिखी जाती है, उसमें लैंगिक पूर्वग्रह व्याप्त दिखाई देते हैं. चीनी लिपि भाव-चित्रात्मक लिपि है, जिसमें अर्थों या भावों के लिए चित्रात्मक संकेत प्रयुक्त किए जाते हैं. गुणाकर मुळे ने अपनी उक्त पुस्तक में ज़िक्र किया है कि चीनी लिपि के संकेतों के छह प्रकार हैं, जिन में से तीसरा प्रकार है संयुक्त चिह्नों का. उनमें दो या दो से अधिक संकेतों को मिला कर किसी अन्य अभिप्रेत (अर्थ/भाव) को व्यक्त किया जाता है. उदाहरणस्वरूप, चीनी लिपि में 'औरत' के लिए प्रयुक्त संकेत का लगातार दो बार प्रयोग करके जो संयुक्त संकेत बनाया जाता है, उससे व्यक्त अर्थ है : 'कलह'. वही संकेत जब तीन बार आता है, तो 'साज़िश' का वाचक बन जाता है. स्पष्टतः यह स्थिति इस बात की दिग्दर्शक है कि चीनी लिपि के प्रयोक्ता समाज में स्त्री को किस क़दर झगड़ालू और षड्यंत्रकारी माना जाता रहा है. भारत सहित दुनिया के अधिकतर हिस्सों में भी बड़े पैमाने पर स्त्री को ऐसा ही नकारात्मक मानने का चलन रहा है, जो पुराने नीतिवचनों और लोकोक्तियों में अभिव्यक्त होता है.

सभी कोटियों या भेदों को विवेचित करने के लिए भाषाशास्त्री आजकल 'जेंडर' (लिंग[24]) शब्द का इस्तेमाल करते हैं, जैसा कि *फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ ग्रामर* पुस्तक में ऑटो जेस्पर्सन (1860-1943) ने माना है— 'जेंडर' शब्द से यहाँ अभिप्राय किसी भी व्याकरणिक वर्ग-भेद से है, जिसकी समानता आर्यभाषाओं में पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसक लिंग में भेद से पाई जाती है ; चाहे वह भेद दो लिंगों के स्वाभाविक भेद पर आधारित हो अथवा सजीव व निर्जीव के भेद पर अथवा अन्य किसी पर ।[25] 'जेंडर' शब्द से अभिहित ये सारी कोटियाँ यद्यपि बाह्य जगत् की वस्तुओं या घटनाओं (यानि, अर्थों/पदार्थों) में अलगाव के बोध पर आधारित हैं, तथापि किसी भाषा का ऐसा कोटि (लिंग) भेद बाह्यार्थों के सुसंगत या तर्कपूर्ण विभाजन का सदा अनुसरण नहीं करता।[26] उदाहरणस्वरूप, संस्कृत में पत्नी के पर्यायों में 'दार' पुल्लिंग,[27]

---

[24] वी.डी. हेगड़े (2001) : 2-4.

'लिंग' शब्द के प्रयोग का अग्रलिखित विवरण मुख्यतः लेखक की पुस्तक *हिंदी की लिंग-प्रक्रिया* से गृहीत हैं. इसकी सारी संदर्भ-सूचनाएँ भी उक्त पुस्तक के अनुसार ही हैं.

'लिंग्' धातु (गत्यर्थक) + 'घञ्' प्रत्यय=लिंग (हलायुधकोश, शब्दकल्पद्रुम, संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ). 'गीता'(14/21) और 'श्वेताश्वतरोपनिषद्' (6/9)में 'चिह्न' के अर्थ में लिंग शब्द आया है. 'न्यायकोश' में लिंग 'गमक' (= प्रतीति कराने वाले) को कहते हैं. जैसे : धुआँ आग का लिंग है. सींग बैल का लिंग है. भाषा-विशेष मनुष्य का लिंग है. गुण अवगुण का और अवगुण गुण का लिंग है. ईश्वरकृष्ण-कृत 'सांख्यकारिका' (कारिका 10) में 'महत् तत्त्व आदि कार्यजात' को लिंग कहा गया है. कृष्णयज्व-रचित 'मीमांसापरिभाषा' में 'लिंग' का तात्पर्य अर्थ-प्रकाशन सामर्थ्य से है. हिंदू-पुराणों में शिव का मूर्त्त प्रतीक है 'लिंग', जो सृजन का प्रतीक है. 'आप्टे' आदि अनेक कोशों में 'चिह्न' को 'लिंग' का पहला अर्थ माना गया है. भवभूति ने 'जाति' (सेक्स) के अर्थ में 'लिंग' शब्द का इस्तेमाल किया है : *गुणाः पूजास्थानं गुणिषु न च लिंगं न च वयः. (उत्तररामचरितम्*, 4-11).

साहित्यशास्त्र में अनेकार्थक शब्दों के प्रसंग में अर्थ-निर्धारक हेतु-विशेष है 'लिंग'. यहाँ 'लिंग' का अर्थ चिह्न है, न कि स्त्रीलिंग-पुल्लिंग आदि व्याकरणिक कोटि विशेष (लिंग/जेंडर). कई बार, कोई चिह्न (जैसे : विशेषण या क्रिया) अर्थात् 'लिंग' देख कर अर्थ तय किया जाता है. जैसे : 'कुपित मकरध्वज' में 'मकरध्वज' का अर्थ कामदेव होगा, न कि सागर; क्योंकि 'कुपित' विशेषण उसका लिंग है. इसी तरह, 'बरसत घनश्याम' में क्रिया 'बरसत' से 'घनश्याम' का अर्थ तय हो गया : 'बादल'. अब, उसका अर्थ कृष्ण लगाना व्यर्थ है. उक्त व्याकरणिक 'लिंग' को साहित्यशास्त्र में 'व्यक्ति' कहा गया है. वह भी अर्थ-नियामक तत्त्व है. जैसे : 'मित्र' शब्द अलग-अलग लिंगों में अलग-अलग अर्थ रखता है. मित्रम् भाति. (दोस्त); मित्रो भाति... (सूर्य).

पाणिनि ने भी व्याकरणिक 'लिंग' की जगह 'व्यक्ति' शब्द का प्रयोग किया है: : 'लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने.' ('अष्टाध्यायी',1-2-51) वैसे उन्होंने अपनी अन्य कृति 'लिंगानुशासनम्' में 'लिंग' शब्द का भी प्रयोग उक्त अर्थ में भी किया है. जैसे : पहला सूत्र है : 'लिंगम्'. खंडों के नाम हैं : 'अथ पुँल्लिंगाधिकारः' आदि. (पाणिनिपंचकम्, सं. धर्मेंद्रकुमार, दिल्ली संस्कृत अकादमी, नयी दिल्ली, 2014.15, पृष्ठ 237)

[25] ऑटो जेस्पर्सन (1935) : 226.

[26] वी.डी. हेगड़े (2001) : 6. व्याकरणिक लिंग (जेंडर) वाली भाषाओं के विषय में लेखक की *पुस्तक हिंदी की लिंग-प्रक्रिया* में प्रतिपादित किया गया है *कि 'मनुष्य वर्ग के अंतर्गत आने वाले शब्दों में जाति (सेक्स) और लिंग (जेंडर) की जितनी समन्विति पाई जाती है, उतनी ही समन्विति (Conformity) अन्य वर्गों के शब्दों के विषय में पाई नहीं जाती.'* पुस्तक इसे निम्नांकित तरह से सूत्रबद्ध करती है :

1) मनुष्य वर्ग के वाचक शब्दों में जाति (सेक्स) और लिंग (जेंडर) की समन्विति या मेल सर्वाधिक है.

2) पशु वर्ग के वाचक शब्दों में इनकी कम समन्विति साधारण होती है.

3) पक्षी वर्ग के वाचक शब्दों में इनकी समन्विति होती है.

4) अन्य वर्ग के वाचक शब्दों में इनकी समन्विति की उपेक्षा होती है.

[27] देवेंद्रनाथ शर्मा (2005) : 231.

'दार शब्द का प्रयोग पुल्लिंग और बहुवचन में ही होता है.'

'भार्या' स्त्रीलिंग और 'कलत्रम्' नपुंसकलिंग में है। संस्कृत 'कलत्रम्' के समान जर्मन में 'मैड्खेन' (= कुमारी) नपुंसक लिंग में है। रूसी में सूर्य का पर्याय 'सोन्त्से' नपुंसकलिंग और चंद्रमा का पर्याय 'लुना' स्त्रीलिंग है। पुस्तक के लिए प्रयुक्त शब्द 'लिबेर' (लैटिन) और 'लीव' (फ्रांसीसी) पुल्लिंग हैं; 'बिल्बोस' (ग्रीक) स्त्रीलिंग। अवधी में 'वह' पुं., 'वहु' स्त्री.; हिंदी में 'वह' स्त्री-पुरुष दोनों के लिए। इसी तरह, हिंदी सहित अनेक भाषाओं में निर्जीव (यानि, वस्तुतः अलिंगक) वस्तुओं के वाचक शब्द पुल्लिंग और स्त्रीलिंग में प्राप्त हैं।[28] व्याकरणिक कोटियों में वचन, काल, पुरुष का संबंध वास्तविक (लौकिक) जगत् से सीधा है, परंतु 'लिंग' का संबंध सीधा नहीं है।[29]

अमेरिकी भाषाविज्ञानी और प्राच्यविद् लुइस हर्बर्ट ग्रे (1875-1955) व्याकरणिक 'लिंग' का मूल स्रोत 'सर्वचेतनवाद' में खोजते हैं।[30] इस स्थापना को स्वीकार करते हुए, हमारा प्रयास यह स्पष्ट करने का है कि हमारी भाषा के व्याकरण में व्याप्त 'लिंग' नामक अवधारणा सदियों से समाज में चल रहे स्त्री-पुरुषमूलक विभेद-भावना का प्रतिबिंब है, पर साथ ही (जैसा कि समाज में रहा है, वैसा ही) पुल्लिंग का वर्चस्व भी स्त्रीलिंग पर दिखलाती है। यानि, पुल्लिंग के सामने स्त्रीलिंग को दोयम दर्जे का सिद्ध मान कर, 'लिंग' (जेंडर) नामक अवधारणा खड़ी हुई है।

जिस तरह की लिंग-अवधारणा हिंदी-व्याकरण (भाषाई-व्यवस्था रूप आंतरिक व्याकरण और भाषा-विश्लेषण के प्रयत्न रूप बाह्य व्याकरण) पर छाई हुई है, वह हिंदी-व्याकरण के 'पुरुषवादी' होने की ओर इशारा करती है। इसका सबसे पहला और बड़ा संकेत तो यही है कि इस अर्थ में पाणिनि और *साहित्यदर्पण* कार विश्वनाथ द्वारा प्रयुक्त 'व्यक्ति' शब्द को हटाकर (हिंदी) वैयाकरणों ने 'लिंग' शब्द को अपनाया है। यदि भाषा

---

[28] के.ए.एस.अय्यर (1991) : 397.
'लिंग के भेद वस्तुओं के सजीव तथा निर्जीव, पुरुष तथा स्त्री अथवा छोटे या बड़े के भेद पर मूल रूप से भले आधारित रहे हों, किंतु भाषा-विशेष में इन भेदों का इतिहास मात्र बाहरी आकारी कारणों से निर्धारित हुआ है'.

[29] देवेंद्रनाथ शर्मा (2005) : 230-32.
'प्राकृतिक लिंग की दृष्टि से पत्नीवाचक शब्दों को सदा स्त्रीलिंग होना चाहिए, किंतु संस्कृत में पत्नी के पर्यायों में 'दार' पुल्लिंग, 'भार्या' स्त्रीलिंग और 'कलत्र' नपुंसकलिंग है ... रूसी में सूर्य का पर्याय 'सोन्त्से' नपुंसकलिंग और चंद्रमा का पर्याय 'लुना' स्त्रीलिंग है .... यदि प्राकृतिक लिंग के अनुसार व्याकरणिक लिंग की कल्पना हुई होती तो सभी भाषाओं में लिंग का एक ही रूप होना चाहिए था, पर ऐसा नहीं पाया जाता. किसी भाषा की लिंग-व्यवस्था स्त्री-पुरुष को आधार बना कर चली है तो किसी भाषा की सचेतन-अचेतन को और किसी भाषा की श्रेष्ठ-हीन को. दूसरी बात, प्राकृतिक लिंग के अनुसार पुल्लिंग-स्त्रीलिंग की कल्पना तो संगत है, पर नपुंसकलिंग की कल्पना क्यों कर हुई? यदि कहें कि निर्जीव वस्तुओं के लिए नपुंसकलिंग की कल्पना की गई तो यह भी प्रत्यक्ष-विरोध है, क्योंकि जिन भाषाओं में नपुंसकलिंग है, उनमें भी उसका प्रयोग केवल निर्जीव वस्तुओं के लिए ही नहीं होता. संस्कृत में ही सखावाचक 'मित्र' शब्द नपुंसकलिंग है, पर मित्र या तो पुरुष हो सकता है या स्त्री ... एक दूसरी कठिनाई यह भी है कि सभी भाषाओं में लिंग की संख्या एक नहीं है. कुछ भाषाओं में जैसे हिंदी या अंग्रेज़ी में दो ही लिंग हैं; संस्कृत, ग्रीक, जर्मन,रूसी, मराठी, गुजराती आदि में तीन लिंग हैं और कॉकेशी परिवार की 'चेचीन' भाषा में संज्ञा के छह लिंग पाए जाते हैं. यह लिंगभेद इस बात को प्रमाणित करता है कि लिंग-संबंधी धारणा का कोई तर्कसंगत आधार नहीं है ... यदि लिंग प्राकृतिक दृष्टि से निश्चित और अपरिवर्तनीय होता तो पुल्लिंग से स्त्रीलिंग बनाने की आवश्यकता ही क्या थी?'

[30] लुइस एच. ग्रे (1958) : 184.

में भी पुरुष और स्त्री की भेदकता दिखलाना ज़रूरी ही था, तो उसके लिए पारिभाषिक शब्द के रूप में पुरुष-यौनांग के अर्थ में प्रचलित शब्द 'लिंग' को ही क्यों चुना गया? यह चुनाव क्या उसी प्रकार नहीं है जिस प्रकार 'नारी' के व्यक्तित्व की पहचान 'नर' से उसके संबंध का मोहताज हो, जबकि जीववैज्ञानिक आधार पर 'नर' की पहचान ही 'नारी' (के जननी होने के कारण उस) के मोहताज होनी चाहिए थी। नारी-यौनांग के अर्थ में प्रचलित 'योनि' को क्या पारिभाषिक शब्द नहीं बनाया जा सकता था, जो व्यापकतर अर्थ रखता है, न सिर्फ़ जीवविज्ञान की दृष्टि से, अपितु भाषा के सांस्कृतिक अर्थविज्ञान की दृष्टि से भी? 'पुल्लिंग' व 'स्त्रीलिंग' की जगह 'पुंयोनि' व 'स्त्रीयोनि' शब्द निश्चित रूप से सटीक होते। 'योनि' का अर्थ जाति-प्रजाति तक फैलते चला जाता है, जबकि 'लिंग' का अर्थ 'चिह्न' या 'संकेतक' तक ही सिमटकर रह जाता है। पंडित किशोरीदास वाजपेयी ने अपने *हिंदी-शब्दानुशासन* में 'लिंग' की जगह पारिभाषिक शब्द के रूप में 'व्यक्ति' और 'जाति' शब्द का प्रयोग कर अवश्य तर्क-बुद्धि का परिचय दिया है; भले वे इस बात पर सदा क़ायम नहीं रह सके हों। 'योनि' से भी आपत्ति थी तो व्याकरण कोई तीसरा शब्द भी चुन सकता था, जैसा अंग्रेज़ी का 'जेंडर' शब्द है। प्रकार (kind या type) और उत्पन्न होने के अर्थ में प्रचलित लैटिन शब्द genus से पुरानी फ्रेंच का Gendre शब्द बना और वहाँ से मध्ययुगीन अंग्रेज़ी में वह आया। वही आज की अंग्रेज़ी में 'जेंडर' शब्द के रूप में प्रतिष्ठित है। इस तरह किशोरीदास वाजपेयी और अन्य कई लोगों द्वारा प्रयुक्त 'जाति' शब्द से इसका तात्पर्य-साम्य दिखता है।

लोक में स्त्री-पुरुष जातियों के वाचक शब्द भाषा में तो रहते ही हैं। जैसे, लड़का, लड़की या पिता, माता। परंतु, इनके रहने मात्रा से भाषा के व्याकरण में लिंग का अस्तित्व सिद्ध नहीं हो जाता। कारण कि इन दो प्रकार के अर्थों (पदार्थों) के वाचक शब्द उसी प्रकार माने

जा सकते हैं, जिस प्रकार आदमी-घोड़ा, लड़की-शेरनी दो अलग-अलग स्वतंत्र अर्थों के वाचक शब्द हैं। लड़का-लड़की जैसे शब्दों का अर्थ-भेद प्राकृतिक सेक्सगत अर्थभेद है और आदमी-घोड़ा जैसे शब्दों का अर्थ-भेद प्राकृतिक जाति (प्राणी-वर्ग) गत अर्थभेद है। बस, इतना-सा अंतर है। परंतु, यह तो है लौकिक अर्थ का क्षेत्र ही। जब तक व्याकरणिक अर्थ (व्याकरणिक कोटि) के रूप में 'लिंग' की भूमिका न दिखाई दे, तब तक भाषा के व्याकरण में 'लिंग' की सत्ता अमान्य है। यानि, लड़का-लड़की जैसे शब्दों का लिंग-गत अर्थभेद भाषा में इनके प्रयोग-भेद के रूप में ढलता दिखलाई पड़े, तभी माना जाएगा कि भाषा में 'लिंग' की सत्ता है। यानि, किसी भाषा में मुख्यतः रूप-रचना और गौणतः शब्द-रचना या व्युत्पत्ति में लिंग की भूमिका के प्रभावी रहने से मानना होगा कि उस भाषा में व्याकरणिक लिंग-भेद है। इस दृष्टि से देखा जाए, तो हिंदी में यह लिंग-भेद भी बहुत मज़बूत अवस्था में है। हम जानते है कि हिंदी *'जाता है / जाती है'* या *'अच्छे लड़के ने/अच्छी लड़की ने'* वाली भाषा है। इनमें से पहला *क्रिया और दूसरा क्रियेतर शब्द-रूप की रचना* का उदाहरण है। ऐसा लिंग-भेद संस्कृत में तो है, पर अंग्रेज़ी में न के बराबर है। संस्कृत में 'जाता है' और 'जाती है' : दोनों के लिए तिङंत क्रिया रूप 'गच्छति' ही है, पर इनके लिए कृदंत क्रिया रूप दो अलग-अलग हैं : क्रमशः 'गतवान्' और 'गतवती'। परंतु, अंग्रेज़ी में यह लफड़ा नहीं है। दोनों के लिए एक ही रूप आता है : 'goes'। कहने के लिए तो अंग्रेज़ी भाषा में पुल्लिंग स्त्रीलिंग नपुंसक (क्लीव) लिंग और उभय लिंग हैं, पर भाषिक प्रयोग में इनकी सत्ता प्रायः नहीं दिखती। अन्य पुरुष के तीन सर्वनामों (ही, शी, इट) और इनसे बने सार्वनामिक विशेषणों के अलावा और कोई प्रमुख क्षेत्र है ही नहीं, जिससे यह पता चले कि अंग्रेज़ी भाषा के व्याकरण में रूप-रचना के स्तर पर लिंग-भेद है। फिर, चौथा बहुकथित 'कॉमन जेंडर' तो सिर्फ़ कहने की बात है। उसका सूचक तो कोई सर्वनाम या सार्वनामिक विशेषण भी नहीं है, जिससे संकेत मिले कि अमुक शब्द 'कॉमन जेंडर' में है। परंतु, हिंदी में जब हम यह कहते हैं कि 'वह जाती है', फिर 'वह जाता है', तो स्पष्ट होता है कि प्रथम वाक्य का कर्त्ता 'वह' स्त्रीलिंग है, दूसरे वाक्य का कर्त्ता 'वह' पुल्लिंग है। यानि, रूप एक होने के बावजूद ये दोनों 'वह' अलग-अलग अर्थों (स्त्री व पुरुष) के वाचक हैं। व्याकरण रूप को महत्त्व देता है, इसलिए कहा जा सकता है कि हिंदी के सारे सर्वनाम उभयलिंगी यानि कॉमन जेंडर में हैं : मैं-हम, तू-तुम, वह-वे, यह-ये, कौन, कोई, क्या, जो ...सो : जिन ...तिन। सभी एक ही रूप में दोनों लिंगों में प्रयुक्त होने की क्षमता रखते हैं अथवा स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दोनों अर्थों का वाचन हिंदी सर्वनाम करते हैं। (संस्कृत में उत्तम पुरुष और मध्यम पुरुष के सर्वनाम सर्वलिंगी हैं। अंग्रेज़ी में उभयलिंग तो सिर्फ़ कहने भर को है। पर, अंग्रेज़ी भाषा में भी शब्दों की लिंगगत व्युत्पत्ति की प्रक्रिया होती है, जैसे, गॉड > गॉडेस, अतः उसका व्याकरण इस स्तर पर लिंग-भेद से मुक्त नहीं है।[31]

[31] रामविलास शर्मा (2008) : 103 :

'लिंग-भेद में युरोप की आधुनिक और प्राचीन भाषाओं में अधिक समानता है. रूसी में भूतकाल के क्रिया-रूप लिंग के

हमारे भाषिक समाज की यह व्यापक प्रवृत्ति दिखलाई पड़ती है कि लोक में प्रयुज्य विभिन्न कथ्यों के वाचक शब्दों, जिनमें लैंगिक विकल्पन उपलब्ध हो, उन्हें पहले पुल्लिंग में सिद्ध किया जाता है, फिर प्रत्यय या समास-प्रक्रिया से उनसे स्त्रीलिंग रूप बनाए जाते हैं। (वैसे इसके कुछ अपवाद भी हैं, पर आम तौर पर 'नर' या 'लड़का' जैसे शब्द पहले सिद्ध होते हैं, फिर उनसे क्रमशः 'नारी' या 'लड़की' जैसे शब्द बनाए गए।) हमारी भाषा इस तरह पुल्लिंग शब्द को मौलिक और स्त्रीलिंग शब्द को द्वितीयक या व्युत्पन्न बना कर रख देती है। भाषाविज्ञान का एक सिद्धांत है कि अपेक्षाकृत मौलिक या स्वतंत्र शब्दों में उर्वरता अधिक होती है। उनसे जितनी अधिक व्युत्पत्तियाँ संभव हैं, उतनी उनसे व्युत्पन्न शब्दों से नहीं। इसी कारण, 'नर' से ज़्यादा शब्द बनते हैं, 'नारी' से कम : नरता, नरत्व, नरोत्तम, नराधम, नरेंद्र, नरपशु, नरलोक, नरोचित आदि। 'नारी' से बहुत होगा, तो 'नारीत्व', 'नार्योचित' आदि कुछेक शब्द ही संभव हैं। यह तो एक पक्ष हुआ। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि 'नर' से बने 'नरत्व' आदि शब्द इसी वज़न पर ('नारी' से बने) 'नारीत्व' आदि शब्दों से व्यापक हैं। हम पीछे देख चुके हैं कि 'नरत्व' मानव-मात्र के भाव से जुड़ा शब्द है; 'नारीत्व' नारी-मात्र के भाव का प्रकाशक सीमित शब्द है।

इस आलेख में पहले भी ऐसे बहुत सारे व्युत्पत्ति-प्रसंग आ चुके हैं, जिनसे भाषा के गठन में व्याप्त पुरुष-वर्चस्व का संकेत मिलता है। आइए, इस संदर्भ में कुछ और आयामों में बात आगे बढ़ाई जाए! जातिवाचक संज्ञाओं से भाववाचक बनाते समय पुल्लिंग रूप को मूल मान कर भाववाचक (ता, त्व, पा, पन आदि) प्रत्यय लगाया जाता है (जैसे – अध्यक्ष+ता=अध्यक्षता, लड़का+पन=लड़कपन) और इस प्रकार से व्युत्पन्न शब्द को (स्त्रीलिंग-पुल्लिंग दोनों के लिए) व्यापक बना कर प्रयुक्त किया जाता है। जैसे, 'प्रेमचंद ने सभा की अध्यक्षता की। महादेवी वर्मा ने सभा की अध्यक्षता की।' यानि, अध्यक्ष और अध्यक्षा दोनों के कर्म को 'अध्यक्षता' ही कहा गया। 'अध्यक्षाता' जैसा शब्द भाषा में नहीं चला। 'लड़का' और 'लड़की' दोनों के भाव को 'लड़कपन' कहा जाना भी वैसा ही दोषपूर्ण लगता है।[32] (स्पष्ट है कि उपर्युक्त 'नरत्व' शब्द की भी यही दशा है।) इसी तरह, किसी संज्ञा

अनुसार बदलते हैं; वैसे ही कभी-कभी फ्रांसीसी में. जर्मन में यह परिवर्तन नहीं होता. किंतु लिंग-भेद का संबंध उतना क्रिया से नहीं है जितना संज्ञा, सर्वनाम और विशेषणों से. अंग्रेज़ी लिंग-भेद से प्रायः मुक्त है, यद्यपि 'ही' और 'शी' सर्वनामों में प्राचीन लिंग-भेद की स्मृति बनी हुई है. प्राचीन व्याकरणों का अनुसरण करते हुए भले ही विद्यार्थियों को अंग्रेज़ी में भी शब्दों का लिंग-भेद बताने का प्रयत्न किया जाए, पर वास्तविकता यह है कि अंगेज़ी की भाव-प्रकृति लिंग-भेद स्वीकार नहीं करती. इस दृष्टि से वह बाङ्ला के समान है. उत्तर भारत की अधिकांश भाषाओं की तरह फ्रांसीसी, रूसी आदि आधुनिक यूरोपीय भाषाएँ स्त्रीलिंग और पुल्लिंग, इन्हीं दो लिंगों को पर्याप्त समझती हैं. जर्मन और मराठी में प्राचीन भाषाओं के समान तीनों लिंग हैं. **शब्दों की लिंगहीनता भाषा के अधिक जनतांत्रिक होने का सबूत हो सकती है, किंतु लिंग-भेद का संबंध केवल स्थूल उपादेयता से न होकर सौंदर्यबोध से भी है.** शब्द जिस पदार्थ की ओर संकेत करता है, वह वास्तविक जीवन में किस लिंग का है या लिंग-भेद से परे है, यह बात सदा महत्त्वपूर्ण नहीं होती. शब्द की अपनी सापेक्ष स्वतंत्रता है; उसकी ध्वनि और रूप के अनुसार जनता उसका लिंग निश्चित करती है'. (ज़ोर हमारा)

[32] तसलीमा नसरीन (2010) : 22. 'हाँ, **लड़कपन** की एक उम्र ज़रूर थी मेरी. लेकिन, उसे लड़कपन की उम्र कैसे कहूँ, क्योंकि

का ऊनवाचक रूप बनाने (यानि, उसे छोटे या हीन अर्थ में ढालने) के लिए उसे स्त्रीलिंग रूप में सिद्ध किया जाता है, जैसे, 'डिब्बा' से 'डिबिया'। यह प्रक्रिया भी व्याकरण की दृष्टि में स्त्रीलिंग की हीनता की परिचायक है।

इस तरह हिंदी-समाज अपनी व्युत्पत्तियों (लोक में चल रही शब्द-निर्माण प्रक्रिया) और व्युत्पन्न शब्दों के इस्तेमाल को लेकर बहुधा लिंग-भेद का शिकार रहा है। पर, बात बस इतनी नहीं है। वैयाकरणों या व्युत्पत्तिकारों ने कई प्रचलित शब्दों की जिस तरह से व्युत्पत्ति करके दिखाई है या व्याकरणिक प्रक्रिया की जिस तरह से व्याख्या की है, उससे उनकी पितृसत्तात्मक मानसिकता उजागर होती है।

शब्दों की व्युत्पत्ति वाले प्रकरण में 'लिंग' जबर्दस्त भूमिका निभाता है, जहाँ स्त्रीलिंग शब्दों की द्वितीयकता (गौणता) या हीनता खुल कर प्रकट होती है। हिंदी-संस्कृत-अंग्रेज़ी सहित कई भाषाओं में व्युत्पत्ति-प्रकरण में कुछ ख़ास प्रत्यय होते हैं (जिन्हें संस्कृत-व्याकरण के अनुसार, 'स्त्री-प्रत्यय' कहा जाता है), जो पुल्लिंग शब्दों में लग कर स्त्रीलिंग शब्द व्युत्पन्न करते हैं। जैसे, लड़का+ ई=लड़की, बाल+आ=बाला, Hero+ine=Heroine. पुल्लिंग को मूल यानि प्राथमिक और स्त्रीलिंग को उससे व्युत्पन्न यानि द्वितीयक ठहराने वाली भाषा की यह प्रवृत्ति स्त्रीलिंग को पुल्लिंग के सामने कमतर या हीन मानने के सामाजिक दोष की छाया है। यह लोक में चल रही शब्द-निर्माण प्रक्रिया की व्याकरण द्वारा निर्दोष व्याख्या मात्र नहीं है, क्योंकि शब्द-रचना में लोक कितना भी स्वतंत्र हो, पर उसकी प्रक्रिया को 'पुल्लिंग शब्द+स्त्रीप्रत्यय' के रूप में विवेचित और इस तरह पुल्लिंग शब्द को मूल और स्त्रीलिंग को व्युत्पन्न (गौण) बताने का दोष तो व्याकरण ने अपने ही सिर पर लिया है। वह चाहे अपनी सीमा की कितनी भी सफ़ाई दे कि वह तो भाषा की प्रकृति का विश्लेषण मात्र है, न कि कोई स्वतंत्र नियामक; पर 'मूल शब्द (प्रकृति)+प्रत्यय' की कल्पना के ढंग को तो वह थोड़ा-बहुत वह बदल ही सकता था, जिससे स्त्रीलिंग शब्दों को द्वितीयक या व्युत्पन्न मानने की रूढ़ि टूटे। व्याकरण समझाता है कि 'लड़का' शब्द में 'ई' प्रत्यय लगने से 'लड़की' शब्द बना है। वह चाहता तो 'लड़का' व 'लड़की' दोनों को मूल शब्द मान सकता था अथवा 'द्विमुखी व्युत्पत्ति-प्रक्रिया' की कल्पना करके उसके तहत 'लड़का' से 'लड़की' और 'लड़की' से 'लड़का' को व्युत्पन्न प्रतिपादित कर सकता था। ऐतिहासिक रूप से देखने पर हिंदी के 'बहनोई' शब्द को संस्कृत शब्द 'भगिनीपति' का विकास कहा जा सकता है, लेकिन पंडित अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी (1880-1968) ने अपने व्याकरण (*हिंदी-कौमुदी*, 1919)[33] में उसे

मैं लड़का तो हूँ नहीं. जब मैं लड़की हूँ तो कहूँ : मेरी एक **लड़कियाना** उम्र ज़रूर थी!'.(ज़ोर हमारा)

[33] अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी (संवत् 1980) : 28-29

'स्त्रीलिंग शब्दों में ओई, आव और औटा प्रत्यय लगाने से पुल्लिंग शब्द बनते हैं; जैसे : बहन+ओई=बहनोई, ननद+ओई=ननदोई, बिल्ली+आव=बिलाव,, सिल+ औटा=सिलौटा.

ईकारांत स्त्रीलिंग शब्दों को पुल्लिंग बनाने में ई को आ प्रत्यय से बदल देते हैं; जैसे : दुअन्नी दुअन्ना, अधन्नी अधन्ना, गाड़ी गाड़ा, रस्सी रस्सा, हांड़ी हांड़ा, झोली झोला, मकड़ी मकड़ा, लकड़ी लकड़ा आदि.

'बहन+ओई' से व्युत्पन्न माना और इस में लगे 'ओई' को हिंदी का 'पुरुष प्रत्यय' कहा। 'स्त्री-प्रत्यय' के समकक्ष 'पुरुष प्रत्यय' की अवधारणा उनकी मौलिक खोज है, जो व्याकरण के लिए एक उपलब्धि है।[34] अंग्रेज़ी में भी एक-दो व्युत्पत्तियाँ इस तरह की मिल जाती हैं : विडो+अर=विडोअर पर, आम तौर पर व्याकरण में स्त्री-प्रत्यय की प्रतिष्ठा है, यानि वहाँ पुल्लिंग की प्राथमिकता का विकल्प नहीं सोचा जा सका है।

'व्युत्पत्ति' पर विचार करते हुए यह भी ध्यान रहे कि 'पुल्लिंग और स्त्रीलिंग शब्द-युग्म' के रूप में आए बहुत से शब्द एकदम स्वतंत्र होते हैं। जैसे, पिता-माता, पति-पत्नी, बॉय-गर्ल आदि। यहाँ ध्वनि-परिवर्तन के किसी ऐसे नियम का संधान नहीं किया जा सकता, जो 'पिता' शब्द से 'माता' को सिद्ध कर सके और इस प्रकार किसी ऐसे प्रत्यय की कल्पना नहीं की जा सकती, जो 'पिता' में लगकर 'माता' शब्द की व्युत्पत्ति करता दिखे। फिर भी, वैयाकरण बाज कब आया है? हर शब्द की व्युत्पत्ति दिखलाने का प्रयत्न करता ही है। क्या इसलिए कि स्त्रीलिंग शब्द को स्वतंत्र देखना वैयाकरण के पितृसत्तात्मक (?) मस्तिष्क को अग्राह्य है, जो वह लिंगगत ऐसे शब्द-युग्मों में भी स्त्रीप्रत्यय-जन्य व्युत्पत्ति की कथा गढ़ता है? पाणिनि ने 'पति' से 'पत्नी' की व्युत्पत्ति सिद्ध करने की जो व्याख्या दी, यह उनकी विवशता हो सकती है, वास्तविकता नहीं। 'पत्युर्नो यज्ञ संयोगे' (*अष्टाध्यायी* 4-1-33) : पति के यज्ञ-कार्य में सहयोग प्रदान करने से (पति+ङीप् /नुक्) 'पत्नी' की व्युत्पत्ति, स्त्री की निम्नतर सामाजिक स्थिति की आख्यात्री है। स्त्री का पत्नीत्व उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व की समाप्ति और 'पति' नामक मर्द-विशेष के सुख/कल्याण-साधन में उसके विलीनीकरण का पर्याय बना रहा है। यह त्रासद सच ही पाणिनि को 'पति' से 'पत्नी' शब्द की उक्त प्रकार से सिद्धि करने को विवश कर सका। इस पाणिनीय व्युत्पत्ति की छाया में महाभाष्यकार द्वारा यह वितर्क उठाया गया कि जब शूद्र को वेदपाठ या यज्ञादिक का अधिकार ही नहीं है तो शूद्र पुरुष की ब्याहता को उसकी 'पत्नी' कैसे कहा जा सकता है? तब ख़ुद उन्होंने समाधान दिया कि उपमान या लक्षणा से ऐसा कहा जा सकता है।[35] यानि, 'यज्ञ-कार्य में सहयोग' का लक्ष्यार्थ 'सहयोग' लेकर शूद्र

कई ईकारांत स्त्रीलिंग शब्दों के पुल्लिंग रूप ई को आ प्रत्यय में बदल देने से बनते हैं. जैसे : रोटी रोट. कहीं-कहीं अंतिम अक्षर के पहले का व्यंजन भी द्वित्व कर दिया जाता है, जैसे : लकड़ी लक्कड़, टिकड़ी टिक्कड़, गठड़ी गट्ठड़ी.'

[34] कामताप्रसाद गुरु (संवत् 1984) : 231. लगता है, गुरु जी 'हिंदी कौमुदी' की उक्त स्थापना से अनभिज्ञ थे. परंतु, वे हिंदी भाषा के इस तथ्य से अनजान नहीं थे, जिसका प्रमाण है उनका यह कथन : 'कोई-कोई पुल्लिंग शब्द स्त्रीलिंग शब्दों में प्रत्यय लगाने से बनते हैं; जैसे : भेड़ : भेड़ा, बहिन : बहनोई, राँड : रँडुआ, भैंस : भैंसा, ननद : ननदोई, जीजी : जीजा, चींटी : चींटा.'

[35] भार्गव शास्त्री जोशी (सं.) (1988) : 58.

'यज्ञ-संयोग इत्युच्यते, तत्रानेदं सिध्यति : इयमस्य पत्नी. क्व तर्हि स्यात्. 'पत्नीसंयाजाः' इति, यत्र यज्ञसंयोगः. नैष दोषः. पतिशब्दो यमैश्वर्यवाची. सर्वेण च गृहस्थेन पंचमहायज्ञा निर्वर्त्याः, यच्चादः सायं प्रातर्होमचरुपुरोडाशान्निर्वपति तस्यासावीष्टे. एवमपि 'तुषजकस्य पत्नी' न सिध्यति. उपमानात् सिद्धम् : पत्नीव पत्नीति.' (*महाभाष्य* - पतंजलि) पतंजलि की इस व्याख्या की अंतिम दो पंक्तियों पर कैयट ने अपनी *प्रदीप* नामक टीका में निम्नांकित व्याख्या प्रस्तुत की है :– '**तुषजकस्येति**. त्रैवर्णिकानामेव सभार्याणां यज्ञेऽधिकारो न तु शूद्रस्य. **उपमानादिति**. अग्निसाक्षिपूर्वक पाणिग्रहणाश्रयादितिभावः.' ('प्रदीप' : कैयट) कैयट की इस व्याख्या पर 'उद्योत' नामक टीका में नागेश भट्ट ने निम्नांकित टिप्पणी की है :– ''**न तु शूद्रस्येति**. विद्याया अभावात् तस्यैवानधिकारे तद्भार्यायाः सुतरामिति भावः. ननु पंचमहायज्ञेषु शूद्राणामप्यधि-

पुरुष की स्त्री को उसकी 'पत्नी' कहा जा सकता है। इन सब पचड़ों में पड़ने की जगह यदि लिंगगत युग्म में आए 'पति' व 'पत्नी' जैसे शब्दों को 'आदमी' व 'घोड़ा' जैसे अलग-अलग स्वतंत्र शब्द मानकर चला जाता तो क्या गड़बड़ी होती? पुल्लिंग की सत्ता कमज़ोर होती यही न? (औरत स्वतंत्र रह जाए, तो मर्दानगी किस काम की?) समग्रतः, वैयाकरण भी समाज में व्याप्त लिंगगत, जातिगत पूर्वग्रहों से स्वयं को बचा नहीं पाता।

लिंगगत व्युत्पत्तियों में केवल ऐतिहासिकता की दुहाई देना भी ठीक नहीं, उसमें कुछ व्यावहारिकताओं का ख़याल भी रखना चाहिए। जो (स्त्री) रिश्ते पूर्वसिद्ध हैं, यानि हमारे सामाजिक बोध में पहले आते हैं (जैसे, फूफी, मौसी, बहन, जीजी, ननद आदि) उनमें ही पुंप्रत्यय लगा कर उनसे लिंगगत व्युत्पत्ति (फूफा, मौसा, बहनोई, जीजा, ननदोई आदि) सिद्ध करना ठीक रास्ता है। यानि, 'मौसा' आदि शब्दों से 'मौसी' आदि को व्युत्पन्न दिखलाने का तरीक़ा अवैज्ञानिक है। 'चाचा' से 'चाची' को व्युत्पन्न मानने की व्यवस्था इसलिए वैज्ञानिक है, क्योंकि 'चाचा' पूर्वसिद्ध है, 'चाची' उत्तरसिद्ध। लेकिन, 'लड़का' और 'लड़की', 'राजकुमार' और 'राजकुमारी' अथवा 'पति' और 'पत्नी' में से कोई न पूर्वसिद्ध है, न उत्तरसिद्ध। दोनों सहसिद्ध हैं। भले ऐतिहासिकता कुछ भी कहे, परंतु 'लड़की+आ=लड़का' व्युत्पत्ति करना उतना ही समीचीन होता। पर इस तरह के प्रसंगों में (हिंदी-) व्याकरण ने अपने ख़ास तरह के पुरुषवादी रुझानों का ही संकेत दिया है।

स्त्री, नारी और महिला की व्युत्पत्तियों का समाजशास्त्र : औरत के लिए हमारी भाषिक परंपरा में इसके अतिरिक्त सर्वाधिक प्रचलित तीन शब्द हैं : स्त्री, नारी और महिला। इन में भी हमारी बोलचाल में 'स्त्री' और 'महिला' शब्द सबसे ज़्यादा प्रयुक्त होते हैं। संस्कृत की दृष्टि में तो ये तीनों शब्द व्युत्पन्न (यौगिक) हैं, पर हिंदी की दृष्टि में 'नारी' यौगिक शब्द (नर + ई) है, शेष रूढ़ हैं। इन शब्दों को लेकर हमारे शब्दशास्त्रियों ने जो माथापच्ची की है, उसमें उनके पुरुषवादी पूर्वग्रह और पितृसत्तात्मक रुझान साफ़ झलकते हैं।

स्त्री : यास्क ने अपने *निरुक्त* में 'स्त्यै' धातु से इसकी व्युत्पत्ति की है ('स्त्रियः स्तायतेरपत्रपणकर्मणः', निरुक्त, 3.21.2), जिसका अर्थ लगाया जाता है : लज्जा से सिकुड़ना। यास्कीय व्युत्पत्ति पर *निरुक्त* के टीकाकार दुर्गाचार्य ने लिखा है : 'लज्जार्थस्य लज्जन्तेपि हि ताः'। इसका भावार्थ है कि लज्जा से अभिभूत होने से औरत का एक पर्याय स्त्री है। यहाँ आपत्ति की बात यह है कि लजाना या शरमाना स्त्रियों का जन्मजात गुण तो है नहीं। यदि पुरुषवर्चस्वी सभ्यता में ख़ास तरह के सामाजिकीकरण के तहत लड़कियों पर लज्जा का भाव आरोपित न किया जाए, तो वे भी लड़कों की तरह (कम से कम अपने जायज़ हक़ों के लिए) सामने वालों की आँखों में आँखें डाल कर बात करने में समर्थ होंगी, न कि

कारोऽस्तीति चेन्न, शूद्रस्येत्यस्याऽसच्छूद्रस्येत्यर्थात्. सच्छूद्राणामेव तेष्वधिकार इति प्रसिद्ध स्मृत्यादिषु. **अग्नीति**. अग्निसाक्षिकपाणिग्रहणनिमित्तसादृश्यादित्यर्थः. इदमुपलक्षणम्, येषां तदपि नास्ति, तेषां सादृश्यान्तरं बोध्यम् ... ('उद्योत' : नागेशभट्ट) (ज़ोर हमारा)

छुईमुई गुड़िया बनी रहेंगी। सच तो यह है कि ऐसी व्युत्पत्तियाँ सभ्यताजनित स्थितियों को स्वाभाविकता प्रदान करने की दिशा में खड़ी हैं।

पाणिनि ने भी 'स्त्यै' धातु से ही 'स्त्री' की व्युत्पत्ति की है, पर इस धातु का अर्थ शब्द करना और इकट्ठा करना लगाया है : 'स्त्यै शब्द-संघातयोः' (धातुपाठ , 1/935)। इसका आशय है कि औरत को स्त्री जैसी संज्ञा पुरुष की अपेक्षा उसके गप्पी, बकवादी या लड़ाकिन होने की लोकश्रुति के कारण दिया गया। ऐसी ही किसी लोकश्रुति के प्रभाव में अंग्रेज़ी के व्युत्पत्तिकार सैमुअल जॉनसन (1709-1784 ई) ने यह व्युत्पत्ति दी होगी कि लड़की को 'गर्ल' इसलिए कहते हैं कि वह 'गैरुलस' अर्थात् बहुत अधिक बकबक करने वाली होती है।[36]

पतंजलि ने पाणिनीय सूत्र 'स्त्रियाम्' (4-1-3) का थोड़ा विस्तार करते हुए कहा है : *'स्तन-केशवती स्त्री स्यात् लोमशः पुरुषः स्मृतः।'* (यानि, स्तन-केश वाली स्त्री होती है और रोम वाला होता है पुरुष।) स्तन तक तो ठीक है, पर 'केश' को स्त्री का चिह्न मानना कैसा? स्त्री के बाल लंबे होना कोई प्राकृतिक गुण-धर्म तो है नहीं। इसके गहरे सांस्कृतिक कारण हैं। स्त्री सदियों से 'सुंदर' बनी रहने को बाध्य बना के रखी गई है, जिसका एक प्रमुख पैमाना बालों की लंबाई है। इस तरह से बाल लंबे रखने के मूर्त्त-अमूर्त्त दबावों के बीच जीती रही है वह। पतंजलि यह सीधा सच नहीं देख सके और ऐसी सरलीकृत परिभाषा दे कर स्त्रियों पर बाल बढ़ाने के दबाव डालने वाली ऐतिहासिक पंक्ति में शामिल हो गए।

स्त्री शब्द पर पतंजलि ने अन्य तरीक़े से भी विचार किया है : 'स्त्यायति अस्यां गर्भ इति स्त्री' : अर्थात्, गर्भ की स्थिति अपने भीतर रखने के चलते वह स्त्री कहलाती है। (वामन शिवराम आप्टे ने भी कुछ ऐसा ही लिखा है : 'स्त्यायते शुक्रशोणित यस्याम्' : स्त्यै + ड्रप् + ङीष्)'। साथ ही, पतंजलि ने यह भी कहा है : 'शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धानां गुणानां स्यानं स्त्री' (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध आदि गुणों का स्यान अर्थात् समुच्चय स्त्री है।) यह भी स्त्री की देहवादी व्याख्या हुई। पतंजलि के इस वचन का भी पुराना स्रोत है : *ऋग्वेद* (1-164-16) पर यास्क-कृत टीका : 'स्त्रियः एवैताः शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंधहारिण्यः' (निरुक्त, 14/20)।

[36] हेमचंद्र जोशी (1997) : 76.

यह प्राकृतिक सच है कि स्त्री के शब्द-स्पर्श-रूपादि विषयों का ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से ग्रहण कर पुरुष अपनी मानसिक तृप्ति करता है। इसी तरह, स्त्री भी पुरुष के शब्दादि से अपनी मानसिक तृप्ति करती है। पर, कुछ भी रुचने या तृप्त होने के स्त्री के जन्मजात अधिकार की अनदेखी और उपेक्षा के साथ पुरुष-प्रधान समाज में सारी परिभाषाएँ खड़ी हुईं। प्रसिद्ध ज्योतिर्विद् वराहमिहिर ने अपने ग्रंथ में यहाँ तक बढ़ कर घोषणा कर डाली कि ब्रह्मा ने स्त्री के सिवा ऐसा कोई रत्न नहीं बनाया, जो दिखाई देने, कानों से जिसकी ध्वनि सुनाई देने, स्पृष्ट होने या स्मरण में भी आने पर सुखदायी हो : 'श्रुतं दृष्टं स्पृष्टं स्मृतमपि नृपां ह्लादजननं न रत्नं स्त्रीभ्योन्यत् क्वचिदपि कृतं लोकपतिना।' (*वृहत्संहिता*, 74/4) ये सारी परिभाषाएँ स्त्री को केवल देह और उसे पुरुष हेतु मनोरंजन-सामग्री मानने की सोच की प्रतिध्वनियाँ हैं।

स्त्री शब्द से ही विकसित हुआ है लोक-भाषाओं में आया 'त्रिया' या 'तिरिया' शब्द। ('तुम्ह तिरिया मति हीन तुम्हारी' : पद्मावत)। यह संभवतः 'स्त्रियश्चरित्रम् पुरुषस्य भाग्यम् देवो न जानाति कुतो मनुष्यः' आदि उक्तियों में आए 'स्त्रियः' का विकास है। इसी से बना समस्त पद 'तिरियाचरित्तर' समाज में ख़ूब चलता है। इसमें स्त्री के व्यक्तित्व का स्वीकार तो है, पर बेहद नकारात्मक रूप में। मसलन, स्त्री झगड़ालू, बकवादी, बेवफ़ा, विवाहेतर संबंध रखने वाली, रहस्यमयी, अविश्वसनीय आदि होती है। इन्हीं दुर्गुणों व तज्जनित लक्षणों को समेकित रूप में 'तिरियाचरित्तर' कहा जाता रहा है, जो स्त्रियों की सामूहिक बदनामी और अपमान का सूचक है। सच तो यह है कि पितृसत्ता के प्रत्यक्ष दमनों व छल-छद्मों से भरी विषम परिस्थितियों में घिरी स्त्रियों की स्थिति दाँतों के बीच जीभ की-सी रहती है। उसमें अपने अस्तित्व-रक्षा के लिए भी वे जो कुछ करती हैं या सहज ढंग से साँस भी लेती हैं, तो मर्दवादी भाषा में उसे 'तिरिया-चरित्तर' कह दिया जाता है।

नारी : यह वैदिक शब्द नहीं है। हाँ, 'नृ' / 'नर' का प्रयोग 'वेद' में मिलता है, जिसका अर्थ वीर, नेता आदि है। 'नृ' शब्द तब स्त्री-पुरुष सबको समेट कर मानव-मात्र का वाचक था। उसी से पुल्लिंग 'नर' (नृ+अच्) बना, जिसमें ङीष् प्रत्यय जोड़ कर 'नारी' शब्द सिद्ध किया गया। इस प्रकार की व्युत्पत्ति से साफ़ ज़ाहिर होता है कि नर के समक्ष नारी गौण या हीन है।

महिला : यह 'मह्' धातु (= आदर, पूजा करना) से व्युत्पन्न माना गया (मह् + इलच् + टाप्)। इस तरह अर्थ हुआ : आदरणीया या पूज्या। परंतु आप्टे-कोश में इसके अर्थ में स्त्री के साथ, मदमत्त या विलासिनी स्त्री भी दिया गया है।

'महिला' शब्द मूलतः स्त्री की महिमा या समाज में उसकी बुलंद हैसियत को रेखांकित करने वाला शब्द लगता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह शब्द उस युग या देशकाल का अवशेष है, जिसमें मातृसत्तात्मक व्यवस्था अथवा मातृवंशी या मातृप्रधान समाज अस्तित्व में रहे हैं। तब स्त्री की सामाजिक व आर्थिक सत्ता मज़बूत थी तथा कदाचित् वही समाज का नेतृत्व करती थी। उसकी यौनिकता स्वाधीन थी। वह किस समय किस पुरुष के यौन-संसर्ग में जाएगी, यह उसके अधिकार-क्षेत्र में था। समाज की वंश-परंपरा को आगे बढ़ाने के लिए वह अपनी

पसंद से पुरुषों का वरण करती थी और संतान पर अधिकार उसी का रहता था। उसकी यह स्वतंत्रता या सत्ता तब के समाज के लिए सहज स्वीकार्य या आदरणीय थी। तब समाज में पिता जैसा पद शायद उतना महत्त्व नहीं रखता था।

माँ मौलिक है पर हमने बना डाला उसे महज़ 'बाप की बीवी'। इस सत्य के इर्द-गिर्द हम पहले भी घूमते रहे हैं कि जीववैज्ञानिक दृष्टि और सामाजिक बोध के क्रम में (बच्चे के लिए) माँ का अस्तित्व प्राथमिक है, पिता का परवर्ती, वह भी माँ से उसके रिश्ते के संदर्भ में। सच तो यह है कि पारिवारिक-सामाजिक संबंधों में सबसे मूलभूत संबंध माँ और उसकी संतान का होता है। यानि, दुनिया के हर देश-काल के तमाम संबंधों की भीड़ में सबसे ज़रूरी या अनिवार्य रिश्ता माँ का होता है। इसका जीववैज्ञानिक ही नहीं, प्रत्यक्ष सामाजिक आधार भी है। दुनिया में किसी व्यक्ति का आना या जन्मना ही नहीं, बल्कि पालन-पोषण के आरंभिक और आधारभूत दौर से उसका गुज़रना माँ के ज़रिए ही संभव होता है। मतलब, किसी की उत्पत्ति और उसके पालन-पोषण का सबसे प्रत्यक्ष आधार माँ ही होती है। पिता या बाप से संतान का संबंध उतना प्रत्यक्ष नहीं होता : न जन्म का और (अधिकतर समाजों में) सामाजिक दायित्व के भेदभावमूलक विभाजन के तहत न पालन-पोषण का ही। यही कारण है कि पिता या बाप का पद उस तरह अनिवार्य नहीं है, जिस तरह माँ का। पिता का स्थान या स्वरूप तो बहुत हद तक सामाजिक समीकरणों और तज्जनित व्याख्याओं से संचालित व निर्धारित होता है, परंतु माँ का पद तो प्राकृतिक तौर पर सिद्ध है। इसलिए, यह आश्चर्य नहीं कि अफ़्रीक़ा की कुछ जंगली जातियों में 'पिता' को केवल एक कारण माना जाता है, माँ को मुख्य।[37] वहाँ पिता बच्चे के लिए उसकी 'माँ के पति' के रूप में आंशिक महत्त्व रखता है। इसी तरह, कई समाजों में पिता की अवधारणा न मिले तो भी अचरज की बात नहीं है। पर, माँ जैसे मूलभूत तथा प्रत्यक्ष महत्त्व के रिश्ते की अवधारणा से कोई समाज भला कैसे बच सकता है? इस आधार पर यह व्याख्या भी की जा सकती है कि बाप का वाचक शब्द मिले न मिले, पर माँ के वाचक शब्द की स्थिति दुनिया के हर दौर और हर जगह की भाषा में रहती ही है। इस दृष्टिपात के दौरान यह भी सामने आता है कि कुछ भाषाओं में माँ के वाचक शब्द एक से अधिक भी हैं। ऐसा भी संभव है कि किसी भाषा में प्राप्त शब्द मूलतः उसके अपने न हों, बल्कि अन्य भाषा से यात्रा करके पहुँचे हों। 'माँ' को व्यक्त करने वाला शब्द तो चाहिए ही चाहिए, चाहे वह अपना न होकर आयातित ही क्यों न हो। इस विहंगावलोकन के साथ, यह भी देखने की ज़रूरत है कि अधिकतर भाषाओं में माँ जैसे मूलभूत रिश्ते के वाचक शब्द की

[37] वैश्ना नारंग (1996) : 181-82. 'मूल परिवार की संकल्पना प्रत्येक समाज एवं संस्कृति में मान्य है या नहीं : इस संदर्भ में उन संस्कृतियों का उल्लेख आवश्यक हो जाता है, जिनमें 'माता-पिता तथा संतान' से बने मूल परिवार का कोई स्थान नहीं है. गुडेनफ़ ने इस प्रकार की सभ्यता के कई उदाहरण दिए हैं. अफ़्रीक़ा की कुछ जंगली जातियों में पिता को केवल एक कारण माना जाता है तथा माँ-बच्चे के संबंध को ही प्रमुख माना जाता है. पिता बच्चे के लिए उसकी माँ के पति के रूप में केवल आंशिक महत्त्व रखता है. इस प्रकार, कुछ अन्य पैतृक जातियाँ हैं, जिनमें बच्चे को एक बीज माना जाता है और माँ केवल उस बीज के लिए एक प्राकृतिक संदर्भ, प्राकृतिक पर्यावरण ही है. माँ-बच्चे का संबंध पिता और बच्चे के संबंध की तुलना में गौण होता है'.

व्याकरणिक स्थिति मूल शब्द (रूढ़ शब्द) के रूप में ही होती है, न कि किसी अन्य (पुल्लिंगवाची) शब्द से व्युत्पन्न रूप में। हो सकता है कि संस्कृत-सी व्युत्पत्ति-प्रिय भाषाएँ उन कथित रूढ़ शब्दों को भी किसी धातु से व्युत्पन्न सिद्ध कर दे, परंतु उनकी व्युत्पत्ति भी किसी स्वतंत्र सार्थक शब्द (बाल+आ=बाला) से कर पाने में वे सर्वथा असमर्थ सिद्ध होती हैं। यही तो है 'माँ' की मौलिकता!

इसी संदर्भ में, भारतीय पुराकथाओं के कुछ भाषिक साक्ष्यों के आधार पर ऐसी भी व्याख्या की जा सकती है कि संतान की पहचान एकमात्र माँ से ('जाबाल', जबाला का पुत्र) करने की परंपरा सबसे आदिम है। फिर आई, माँ-बाप दोनों से साथ-साथ पहचान करने की परंपरा : जैसे कि महाभारत-काल में 'कौंतेय' (कुंती का पुत्र) और 'पांडव' (पांडु का पुत्र) दोनों एक साथ चलते दिखते हैं। ऐतिहासिक विकास-क्रम में, बाद में संतान को एकमात्र बाप से पहचानने की परंपरा इतनी अधिक व्यापक हो गई कि सर्वोच्च न्यायालय के तमाम दिशा-निर्देशों के बावजूद, उनसे अनभिज्ञ सी बनी रह कर आज भी कई केंद्रीय संस्थाएँ अपने यहाँ तमाम तरह के प्रपत्रों में केवल पिता के नाम भरने का कॉलम रखती हैं।

पितृसत्ता के विकास ने स्त्री के महत्त्व की पूरी संरचना को उलट कर रख दिया, जिससे माँ को पिता द्वारा दिए गए तथाकथित बीज (जबकि असल में पिता बीज के अर्धांश का ही दाता है, जैसा कि हम पीछे देख चुके हैं) के लिए महज़ एक प्राकृतिक संदर्भ या विकास-परिवेश भर माना जाने लगा। वह बच्चे की 'जननी' और उसके प्रधान पहचान-आधार की जगह उसके लिए 'बाप की बीवी' भर मानी जाने लगी। जैसे-जैसे पितृसत्तात्मक समाज आकार लेता गया, स्त्री दोयम दर्जे की होती गई। उस स्थिति में स्त्री का वह स्वातंत्र्य एवं महत्त्व आदर की वस्तु नहीं रह गया, जिसका आख्यान 'महिला' शब्द की व्युत्पत्ति करती थी। उसकी मुख्य पहचान पुरुष की वंश-परंपरा को जारी रखने वाली मशीन और पुरुष के कार्य में सहायक एवं उसके मनोरंजन व भोग का सामान बनने वाली हो कर रह गई। इसका प्रभाव उसके लिए वाचक शब्दों के विकास और उनके लिए निर्धारित की गई व्युत्पत्तियों पर भी पड़ा। उसी दौर में 'महिला' के अर्थ में विलासिनी-मदमत्त स्त्री के भाव जोड़े गए होंगे।

'नारी' शब्द तो 'नर' से व्युत्पन्न होने के कारण स्वतंत्र या स्वनिर्भर शब्द नहीं है। संस्कृत-वैयाकरणों द्वारा की गई व्युत्पत्तियों के लिहाज़ से 'स्त्री' भले नकारात्मक अर्थ वाला हो, पर उसकी सबसे बड़ी ख़ासियत यह है कि वह स्वाधीन, स्वनिर्भर शब्द है। 'महिला' भी स्वाधीन, स्वनिर्भर है और वह किसी प्राचीन समाज में औरत की ऊँची हैसियत का संकेतक शब्द है भी, जैसा हमने पीछे देखा। फिर भी, आज कुछ लोग 'महिला' की बजाय 'स्त्री' शब्द कहना ज़्यादा पसंद करते हैं, क्योंकि वे इन शब्दों में वर्ग-भेद करते हुए 'महिला' को संभ्रांत या उच्च वर्ग की औरतों के लिए प्रयुक्त करते हैं[38] और 'स्त्री' को व्यापकतर आयाम में आम वर्ग की

[38] अजित वडनेरकर (2014) : 408. 'लॉर्ड शब्द बना है मध्यकालीन अंग्रेज़ी के लैफ़ोर्ड से जिसमें गृहपति, मुखिया, शासक, वरिष्ठ और ईश्वर आदि भाव समाहित थे ... 'लॉर्ड' का स्त्रीवाची है 'लेडी', जिसका पुराना रूप है 'लैफ्डी' अर्थात् जिसका

औरतों के लिए। वैसे सरकारी प्रयोग 'स्त्री' की तुलना में 'महिला' को वरीयता देते हैं : 'महिला आरक्षण विधेयक', 'घरेलू हिंसा से महिला सुरक्षा अधिनियम' आदि।

अब तक हमने विचार किया है कि किस तरह विश्व-स्तर पर सदियों से विद्यमान पितृसत्तात्मक सामाजिकता की छाया मनुष्य की भाषा पर भी पड़ी है, जिससे उसमें न सिर्फ़ लिंगभेद पैदा हो गया है, बल्कि स्त्रीलिंग पर पुल्लिंग का वर्चस्व भी अनेक प्रकार से क़ायम व कार्यरत है। लिंगभेदी समाज में रह रहा वैयाकरण भी उन लैंगिक पूर्वग्रहों से अनायास ग्रस्त हो जाता है; फलतः नियम और उदाहरण प्रस्तुत करते समय उसके विवेचन या उदाहरण की भाषा अनायास स्त्रीविरोधी हो उठती है। अथवा, उसकी भाषा स्त्री के अस्तित्व या हित पर, उसकी वंचनाओं व पीड़ाओं पर मौन हुई रहती है। जहाँ उसके विवेचन और उदाहरणों को 'स्त्री-सशक्तीकरण' और 'लैंगिक न्याय' की युगीन संकल्पनाओं के प्रति अभिमुख रहने के साथ लोकतंत्र का सतत संवादी होना चाहिए था, वहीं वह ख़ुद ही लिंग-भेद की गहन समस्या की अनदेखी करते हुए और उससे भी आगे बढ़ कर अपने हाथों से भी उसमें कुछ जोड़ रहा होता है।

यह स्पष्ट होना चाहिए कि जब तक भाषा में लिंग-भेद बना रहेगा, तब तक व्याकरण के नियमों में भी झलकता रहेगा। यानि, व्याकरण का लिंग-भेदी होना भाषा व भाषिक समाज के लिंगभेदी होने का कुपरिणाम है, परंतु गौणतः वैयाकरणों के भी पुरुषवादी होने का भी कुफल है व्याकरण का लिंगभेदी या पुरुषवादी होना। फिर, वैयाकरण उस लिंग-भेद में अपनी तरफ़ से कई बार मज़बूती भी ला देते हैं, जब वे भाषा का व्याकरण लिखते हैं (यानि भाषा में अंतर्निहित व्याकरण को विवेचन या पुस्तकीय प्रारूप में मूर्त्त करते हैं)। इस विसंगति का एक प्रमुख आधार वैयाकरणों की पाँत में स्त्री की नगण्यता भी हो सकती है।[39] वैसे इक्की-दुक्की
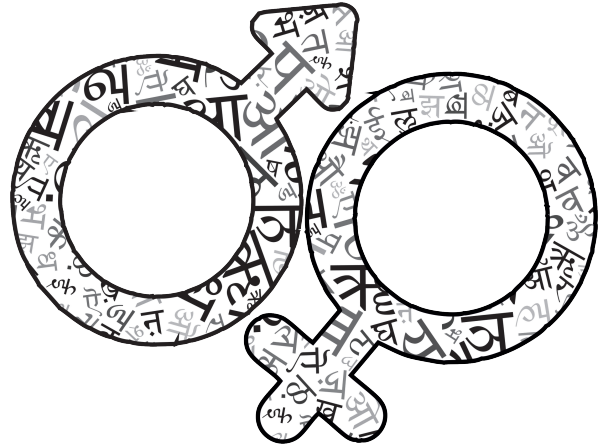
मतलब हुआ आटा गूँथने वाली. मगर भाव है स्वामिनी, मालकिन आदि.'

एक अन्य स्रोत से ज्ञात हुआ है कि 'लेडी' के अनुवाद के रूप में 'महिला' शब्द चला. 'लेडीज़ ऐंड जेंटलमेन' का अनुवाद 'देवियों और सज्जनों!' हुआ, पर यह उच्चवर्गीय था. सामान्य वर्ग में इसकी जगह 'बहनों और भाइयो!' चला. लेडी शब्द 'लॉर्ड और जेंटलमेन' का स्त्रीलिंग रूप है, जो इंग्लैंड के उपाधिधारी कुलीनों (ड्यूक, अर्ल, बैरन, नाइट, विस्काउंट आदि) के लिए प्रयुक्त होते थे. लॉर्ड की तरह लेडी भी उपाधि ही थी. पर, ज़्यादातर उपाधिधारी कुलीन पुरुषों की पत्नियाँ ही लेडी कहलाती थीं.

[39] दिलीप सिंह (2009) : 63-76.

हिंदी-वैयाकरणों की पाँत में स्त्री वैयाकरण की छवि विगत सदी के सातवें दशक के पहले दिखलाई पड़ती है. पुरुष-वैयाकरणों के एकच्छत्र राज्य का दुष्प्रभाव, व्याकरण के माध्यम से व्यक्त हो रही सामाजिकता पर ही नहीं, बल्कि लिंग, व्युत्पत्ति आदि

स्त्री वैयाकरण हो कर भी क्या कर सकती हैं, जबकि पितृसत्तात्मक सोच सर्वाच्छादी है? वैयाकरण लक्षण या परिभाषा बनाते और उनके उदाहरण देते हुए, स्त्री के साथ किए जा रहे सामाजिक अन्याय को नज़रअंदाज़ करते हुए, उसके हीन या दोयम दर्जे पर मुहर भी लगाते चले हैं। हिंदी के यशस्वी वैयाकरण पंडित किशोरीदास वाजपेयी (1898-1981) 'आत्मा' के स्त्रीलिंग और 'परमात्मा' के पुल्लिंग होने का जब तर्क पेश करते हैं, तो बात खुल कर सामने आ जाती है। उनके मत से आत्मा परमात्मा के अधीन है, और परमात्मा स्वाधीन-स्वतंत्र है। स्वतंत्रता की व्यंजना के लिए 'परमात्मा' पुल्लिंग में तथा पराधीनता के प्रदर्शन के लिए 'आत्मा' स्त्रीलिंग में है।[40] (फिर 'महात्मा' पुल्लिंग क्यों है?) इसी तरह, पंडित कामता प्रसाद गुरु (1875-1974) ने *हिंदी व्याकरण* के 'शब्द-साधन' नामक खंड में 'लिंग' का विवेचन करते हुए कहा कि *'कई एक स्त्री-प्रत्ययांत (और स्त्रीलिंग) शब्द अर्थ की दृष्टि से केवल स्त्रियों के लिए आते हैं, इसलिए उनके जोड़े के पुल्लिंग शब्द भाषा में प्रचलित नहीं हैं। जैसे, सती, गाभिन, गर्भवती, सौत, सुहागिन, अहिवाती, धाय इत्यादि। प्रायः इसी प्रकार के शब्द डाइन, चुड़ैल, अप्सरा आदि हैं।'*[41] गुरु जी यहाँ पर स्त्री के प्राकृतिक धर्म (जैसे, गर्भधारण) की ही पाँत में पितृसत्तात्मक संरचना द्वारा थोपे गए बोझों, अन्यायों और बदनामियों (धाय, सौत, सती, डाइन आदि) को भी बैठा लेते हैं। अब सोचा जाए कि क्या 'धाय' की भूमिका सिर्फ़ स्त्री निभा सकती है? इस शब्द का पुल्लिंग न बन पाना सामाजिक दायित्वों में लैंगिक भेदभाव के बने रहने का सूचक है। पर, गुरु जी के लिए वह कोई समस्या नहीं है। इससे भी भीषण है स्त्री से संबद्ध अर्थों में 'सती', 'डाइन' आदि को गिना देना। इन दोनों से संबद्ध प्रथागत क्रूरता को वैयाकरण अपनी 'सहजता' में किस तरह नज़रअंदाज़ कर जाता है! यह वैयाकरण की किस असंवेदनशीलता का प्रमाण है! 'अर्थ की दृष्टि से केवल स्त्रियों के लिए आते हैं' : भाषा के इस 'सहज' प्रयोग में कितनी विसंगति छुपी हुई है! सवाल उठाना चाहिए

कतिपय विवेचनों व प्रस्तुत उदाहरणों पर भी पड़ना संभव है. दिलीप सिंह ने उक्त पुस्तक के अंतर्गत, 'हिंदी भाषाविज्ञान के विकास में महिलाओं का योगदान' शीर्षक अध्याय में 'हिंदी व्याकरण' के साथ ऐतिहासिक भाषाविज्ञान, शैलीविज्ञान, समाज-भाषाविज्ञान, भाषा-शिक्षण, व्यतिरेकी भाषाविज्ञान, कोश-विज्ञान और अनुवाद के क्षेत्र में योगदान करने वाली पाँच दर्जन से अधिक भारतीय व विदेशी महिलाओं (और उनकी कृतियों) का उल्लेख किया है, जिन्होंने हिंदी-भाषाविज्ञान के उक्त क्षेत्रों को स्वतंत्र पुस्तकों, आलेखों और (एम.फ़िल और पीएच.डी. के) शोध-प्रबंधों के ज़रिए समृद्ध किया है. उनमें से कुछ नाम हैं : लक्ष्मीबाई बालचंद्रन, यमुना काचरू, सुधा कालरा, लक्ष्मी कुट्टी अम्मा, एच. सरस्वती अम्मा, वशिनी शर्मा, शारदा भसीन, अन्विता अब्बी, निकोल बलवीर, कौशल्या गिडवानी आदि. उन सब का रचना-काल प्रायः विगत शताब्दी के आठवें दशक से ले कर आज तक व्याप्त है. परंतु, हिंदी के भाषावैज्ञानिक और व्याकरणिक विश्लेषणों को, उनके स्त्री होने ने किस हद तक प्रभावित किया है अथवा नहीं? यह अभी स्पष्ट होना बाक़ी है.

[40] किशोरीदास वाजपेयी (संवत् 2055) : 182.

'आत्मा' और 'परमात्मा' ये दोनों ही शब्द जन-प्रचलित हैं, परंतु एक स्त्री-वर्ग में, दूसरा पुंवर्ग में ! क्या कारण है? कुछ होगा. शब्दों की अपनी गति होती है. संभव है, अधीनता और स्वतंत्रता के कारण स्त्री-पुरुष का वर्ग-भेद जनता ने कर दिया हो. परमात्मा के अधीन आत्मा और आत्मा के अधीन देह. सो 'परमात्मा' पुंवर्ग में रहा और उसके अधीन 'आत्मा' स्त्रीवर्ग में! 'देह' भी स्त्रीवर्ग में इसीलिए कि 'आत्मा' से संचालित है.

[41] कामताप्रसाद गुरु (संवत् 1984) : 232.

था, 'क्यों आते हैं?' पर, नहीं हुआ ऐसा। इसी तरह पं. किशोरीदास वाजपेयी ने *हिंदी शब्दानुशासन* के 'वाक्य-विचार' में उदाहरण दिया है – 'बेटी किसी दिन पराए घर का धन होती है।'[42] यह भाषा स्त्रीलिंग में जन्म लेने के प्राकृतिक संयोग के लिए समाज द्वारा लड़की को उपेक्षित-दंडित किए जाने को सहजता प्रदान कर जाती है, जिसके तहत एक ही साथ उसे वस्तु (धन) और पराया दोनों बना दिया जाता है। ऐसे उदाहरण पेश कर वैयाकरण क्या समाज के लिंग-अन्याय को मज़बूती प्रदान नहीं करता? स्त्री-विरोधी उदाहरण देने की परंपरा बड़ी पुरानी है। *अष्टाध्यायी* के 'कर्मणा यमभिप्रैति संप्रदानम्' (1-4-32) के संदर्भ में वार्तिककार कात्यायन ने जो सूत्र दिया है – 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपिसंप्रदानम्', उसका उदाहरण दिया 'पत्ये शेते' (पति के लिए सोती है)।[43] यह कौन-सा उदाहरण है भला? यह उदाहरण देकर स्त्री के सारे व्यक्तित्व को नकार कर सिर्फ़ पुरुष की यौनदासी बना देने वाली कोढ़-मानसिकता पर मुहर लगा देना है।

व्युत्पत्ति-संबंधी उक्त प्रसंगों के अलावा हमारी भाषा की व्याकरणिक व्यवस्था में पुल्लिंग के वर्चस्व के और भी व्यापक संदर्भ प्राप्त होते हैं। उनमें से कुछ का विचार करते हैं। हिंदी भाषा में जहाँ कहीं लिंग की अनिश्चितता होती है, वहाँ सिर्फ़ पुल्लिंग का प्रयोग किया जाता है। जैसे, 'कौन आ रहा है?'/ 'कौन था?' आदि। इसके साथ, जहाँ कहीं लिंग-विशेष जान कर भी उसे प्रकट करना विवक्षित न हो, वहाँ भी पुल्लिंग का ही प्रयोग होता है। वैसी जगह किसी पुरुष को ही नहीं, किसी स्त्री को भी आते देख कर कहा जा सकता है : 'कोई आ रहा है।' इसके साथ, वाच्य-प्रकरण में जब क्रिया कर्त्ता या कर्म के प्रभाव से मुक्त हो जाती है (यानि कर्त्तृवाच्य और कर्मवाच्य के भावे प्रयोग व भाववाच्य हो), तब हिंदी में वह पुल्लिंग-एकवचन में होती है। जैसे, 'राम ने खाया। सीता ने खाया। राम ने साथियों को बुलाया। यहाँ अब बैठा जाएगा।'

संस्कृत-व्याकरण का नियम है कि जहाँ लिंग-विशेष की विवक्षा न हो, वहाँ नपुंसक लिंग-एकवचन सहज रूप से होता है। इस पर यह वितर्क रखा जा सकता है कि चूँकि हिंदी में 'नपुंसक लिंग' नहीं है, इसलिए 'अलिंगता' या 'लिंग-सामान्यता' या 'लिंग की अविवक्षा' अथवा 'भाववाच्य' या 'भावे प्रयोग' में हिंदी 'पुल्लिंग' का प्रयोग करती है। अतः, हिंदी का पुल्लिंग-प्रयोग पुरुषवादी नहीं, विवशता-जन्य है। परंतु, यह कहने वाले यह क्यों नहीं सोच पाते कि 'लिंग-सामान्यता' या 'लिंग-निरपेक्षता' का कार्य क्या स्त्रीलिंग नहीं कर सकता? क्यों संस्कृत के युग से ही पुल्लिंग को व्यापक लिंग बना कर रखा गया है, जिसमें शेष लिंग भी समा जाएँ? फिर, संस्कृत में भी पुल्लिंग व स्त्रीलिंग से इतर, जो लिंग कल्पित किया गया, वह 'न पुंस्' (यानि, जो पुरुष न हो) के रूप में क्यों कल्पित हुआ? पुरुष लिंग का अभाव बतलाते, उसे नकारते जो लिंग कल्पित किया गया (नपुंसक लिंग), उसका पैमाना पुल्लिंग

[42] किशोरीदास वाजपेयी (संवत् 2055) : 362.

[43] शिवदत्त शर्मा (सं.) (1988) : 257.

को क्यों बनाया गया? इस प्रकार पुल्लिंग का वर्चस्व यहाँ भी सिद्ध है। नालायकी के लिए हम 'नपुंसक' शब्द का इस्तेमाल करते/करती हैं। जैसे – 'यह सरकार नपुंसक हो गई'। यानि, सरकार अब मर्द न रह गई। व्याकरण ने ऐसा पारिभाषिक शब्द क्यों नहीं बनाया जो पुंस्त्व या स्त्रीत्व के प्रति निरपेक्षता का संकेत करे? 'नपुंसक' की जगह 'नपुंस्त्री' या 'अलिंग' क्यों नहीं? या, 'स्त्रीतर' (जो स्त्रीलिंग न हो) जैसा ही कुछ पारिभाषिक शब्द क्यों नहीं बनाया जा सका?

'अव्यय' शब्दों के लिंगहीन होने की व्यवस्था व्याकरण देता है। अतः, उक्त तर्क पर हिंदी-व्याकरण उन्हें पुल्लिंग मानकर चलता है। संस्कृत-व्याकरण उन्हें नपुंसक लिंग मानता है। क्रिया के विशेषण (क्रिया-विशेषण) भी स्थानीय आधार पर (यानि वचनहीन, अलिंग रहने वाली क्रिया का विशेषण होने से) अव्यय बन जाते हैं, अतः उनमें भी अलिंगता आ जाती है। इससे हिंदी-व्याकरण उन्हें पुल्लिंग मान कर चलता है। जैसे : राम अच्छा करता है। सीता अच्छा करती है। दोनों स्थितियों में रूप 'अच्छा' ही है, 'अच्छी' नहीं। यही तो पुल्लिंगवाद है। इसी प्रकार, सभी क्रियार्थक भाववाचक संज्ञाएँ हिंदी में पुल्लिंग होती हैं (संस्कृत में नपुंसक लिंग)। जैसे 'पढ़ना अच्छा होता है।' इसे 'पढ़ना अच्छी होती है' नहीं लिख सकते। सबसे मूल बात तो यह है कि क्रियार्थक संज्ञाओं का निर्माण ही 'ना' पुंप्रत्यय से होता है, 'नी' स्त्रीप्रत्यय से नहीं।

उक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि स्त्री और पुरुष को लेकर गुणों या सामाजिक व्यवहार के कोटीकरण की लिंगभेदी-अलोकतांत्रिक मानसिकता व्याकरण जैसे वस्तुनिष्ठता के दावेदार शास्त्र में भी प्रविष्ट हुई है। पुरुष की अधीन, कमज़ोर, अबोध, विद्या/प्रतिभा से दूर, देह-बोध/सौंदर्य से ग्रस्त, घरेलू या रसोई से लेकर बिस्तर तक पारंपरिक भूमिकाओं में मगन, 'प्यार' या 'साहचर्य' धर्म निभाने की जगह 'पति' की 'भक्ति' करती आदि रूपों में ही स्त्री को उदाहरण बनाना आम है, जबकि पितृसत्ता की विविध ग़ुलामियों की जकड़बंदी से निकल कर सशक्त हो रही : पढ़ती, खेलती, कुश्ती करती, गाती, झूमती, नौकरी करती आदि स्त्री भी उदाहरण बनाई जा सकती है। कुछ नहीं तो, अंतहीन संकटों व मजबूरियों में पड़ी या डाली गई, भूखी, पराश्रित, मनोवांछित मित्रता बनाने या मनमाफ़िक कपड़े पहनने तक को छछनती स्त्री उदाहरण बन सकती है। पर नहीं, वैयाकरणों को ऐसा करना काहे को सूझेगा?

लिंग-भेद रहित समाज स्थापित करने की, जेंडर-जस्टिस को सफल बनाने की लोकतांत्रिक प्रतिबद्धता का लक्ष्य पूरा करने की दिशा में भाषा और उसके व्याकरण में पैठा यह लिंग-भेद भी क्या एक बड़ा रोड़ा नहीं है? भाषाई लिंग-व्यवस्था के विश्लेषक चाहे कितना भी उसका संबंध अर्थ-अभिव्यंजना संबंधी सुंदरता-सूक्ष्मता आदि से जोड़ें (जैसा कि रामविलास शर्मा ने कहा है : 'शब्दों की लिंगहीनता भाषा के अधिक जनतांत्रिक होने का सबूत हो सकती है, लेकिन लिंग-भेद का संबंध केवल स्थूल उपादेयता से न हो कर सौंदर्यबोध से भी है।' देखें, संदर्भ-31) अथवा उस व्यवस्था के पैरोकार चाहे लाख भाषाई सौंदर्यबोध के

लिए लिंग-भेद की उपयोगिता की रट लगाते रहें, परंतु सत्य यही है कि कि लिंग नामक कोटि भाषिक संस्कृति में स्त्री व पुरुष भावों के बीच जितने सौंदर्य या माधुर्य की रचना नहीं करती, उससे ज़्यादा वह लिंग-भेद और उस पर आधारित ग़ैर-बराबरी की चिनगारी को हवा देती है। कारण, समाज ही केवल भाषा नहीं बनाता, बल्कि भाषा भी समाज को बनाती है।

'मैं अनुवाद हूँ, क्योंकि मैं एक स्त्री हूँ'

मूल कृति और अनुवाद के बीच प्रायः मौलिकता (प्रधानता) और द्वितीयकता (गौणता) का संबंध माना जाता है। अर्थात्, साहित्य या वाङ्मय के विभिन्न संदर्भों में अनुवाद को 'मूल' के सापेक्ष कुछ नीचे का दर्जा प्राप्त है। 'मूल' और 'अनुवाद' के इस सोपानीकृत रिश्ते को यदि हम वर्तमान विश्वव्यापी समाज-संरचना के संदर्भ में देखें तो यह स्वतः 'पुरुष' और 'स्त्री' के रिश्ते के रूप में परिणत दिखाई देता है। लेकिन, यह है पर्याप्त विसंगत, क्योंकि (जैसा कि हम पीछे अनेकानेक तरह से देखते रहे हैं) जीववैज्ञानिक और तद्-आधारित आदिम समाजवैज्ञानिक यथार्थ से स्त्री मूल है, जिसका अनूदित संस्करण है पुरुष। परंतु, समाज के ऐतिहासिक विकास-क्रम में मूल और अनुवाद का यह अनुक्रम क्रमशः उलटता गया और आगे चलकर पितृ-वर्चस्व से आक्रांत समाज-संरचना स्थापित होती गई, जिसमें पुरुष और स्त्री की परिस्थितियाँ क्रमशः मूल और अनुवाद वाली होती गईं। इसी बदली हुई संरचना का आभास *बाइबिल* की एक कथा में मिलता है, जिसमें पुरुष के शरीर से एक पसली निकाल कर स्त्री की रचना करने का ज़िक्र किया गया है।[44] इस स्थिति को समाजशास्त्र में मातृसत्तात्मक या मातृवंशी व्यवस्था की जगह पितृसत्ता के उभार और स्थापना के रूप में समझा गया है।

[44] शिलानंद हेमराज (1989),'जेनिसिस (उत्पत्ति खंड)', *इब्रानी-अरामी बाइबिल* (प्रथम खंड), 2/18-23.

'प्रभु परमेश्वर ने कहा : 'मनुष्य का अकेला रहना अच्छा नहीं. मैं उसके उपयुक्त एक सहायक बनाऊँगा.' अतः प्रभु परमेश्वर ने मिट्टी से पृथ्वी के समस्त पशु और आकाश के सब पक्षी गढ़े .... लेकिन मनुष्य के लिए उसके उपयुक्त सहायक नहीं मिला. अतः प्रभु परमेश्वर ने मनुष्य को गहरी नींद में सुला दिया. जब वह सो रहा था, तब उसकी पसलियों में से एक पसली निकाली और उस रिक्त स्थान को मांस से भर दिया. प्रभु परमेश्वर ने उस पसली से, जिसको उसने मनुष्य में से निकाला, स्त्री को बनाया और उसे मनुष्य के पास लाया. मनुष्य ने कहा, अंततः यह मेरी ही अस्थियों की अस्थि है, मेरी देह की ही देह है; यह 'नारी' कहलाएगी; क्योंकि यह 'नर' से निकाली गई है.'

सुसन्ने द लोबिनेर हावुड की यह उक्ति : 'मैं एक अनुवाद हूँ, क्योंकि मैं एक स्त्री हूँ'[45] हो या नोर्ड वार्ड जोव का यह कथन : 'अनुवादक मात्र स्त्री-स्तर का लेखक है'[46] : दोनों इसी सामाजिक यथार्थ को कुछ सकारात्मक या नकारात्मक रूप में अभिव्यक्त से करते हैं।

आम तौर पर किसी अनुवाद के प्रामाणिक होने की मूलभूत शर्त उसके मूल-अनुगामी और वस्तुनिष्ठ होने को माना जाता है। परंतु, यह मान्यता अनुवाद के सिद्धांतकारों द्वारा कभी-कभी जिसका काव्यमय रूपक में अभिव्यक्त होती रही है, वह पर्याप्त स्त्रीविरोधी है : 'अनुवादक पतिव्रता स्त्री की तरह होता है।' वस्तुनिष्ठता पर ही ज़ोर देते हुए फ्रेंच चिंतक मेनेष ने कहा है : 'अनुवाद स्त्री है : सुंदर है तो विश्वसनीय नहीं, विश्वसनीय है तो सुंदर नहीं।'[47] मेनेष कहना चाहते हैं कि अनुवाद की प्रामाणिकता उसके पुनःसृजन (काव्यात्मक परिणति) से रहित होने यानि यथावत् अवतरण (वस्तुनिष्ठ परिणति) में है। पर इस सैद्धांतिक प्रतिपादन के लिए उन्हें परंपरा-प्राप्त स्त्रीविरोधी सोच में ढली उक्त अलंकारिकता का सहारा लेना पड़ा है। अपने कथन को सुंदर बनाने के चक्कर में, उसे ख़ुद के अनुसार ही उन्होंने विश्वसनीय नहीं रहने दिया है। मेनेष की उक्त उक्ति के संदर्भ में उनके अंध प्रशंसकों ने यह जोड़ते हुए नहले पर दहला मारा कि महान् कलाकारों व साहित्यकारों में इसी वजह से कोई स्त्री शामिल नहीं रही है। उनके अनुसार, स्त्रियों के जीवन में एक साथ सुंदर और बुद्धिमती होने का संयोग घटित होना असंभवप्राय है। वैसे भी परंपरागत साहित्य में नायिका के सौंदर्य-प्रतिमानों में भोलापन (अर्थात् अबोधता या अज्ञानता) को अनिवार्य-तत्त्व की तरह माना गया है। सच कहें, तो यह बिल्कुल वाहियात तरह का विमर्श है। कारण कि एक तो इस तरह की 'ख़ूबसूरती' और 'अक़्लमंदी' की : दोनों ही अवधारणाएँ मूढ़ पुरुषवादी विचारधारा की निर्मितियाँ हैं, साथ ही स्त्री के लिए उस 'ख़ूबसूरती' को अनिवार्य बताना निहायत ग़ैर-अक़्लमंदी की निशानी है।

अनुवाद को लेकर, परंपरा के खोल में फ़िट, जेंडर-संदर्भित विमर्श के अन्य नमूने भी देख सकते हैं। किसी मूल कृति के अनुवाद में यदि आशय-संबंधी कुछ हेर-फेर अथवा भाषाई व्यतिरेक नज़र आता है, तो ऐसा विमर्श आम हो सकता है, जिसमें हर मूल कृति को स्त्री, उसके रचनाकार को पिता (कहीं-कहीं माँ भी) या पति तथा अनुवादक को उसके जीवन में दख़ल देने वाले बाहरी व्यक्ति (पुरुष) की तरह मान कर परंपरागत यौन-नैतिकता से सनी वह सैद्धांतिकी भी स्थिर की जा सकती है, जिसमें उक्त अनुचित अनुवाद को बलात्कार-सा निंदनीय मानते हुए, पाठ की पवित्रता की रक्षा पर सारा ज़ोर होता है। इस तरह के विमर्श के पीछे निश्चित रूप से, पुरुष व स्त्री को लेकर परंपरागत सत्ता-संरचना (क्रमशः उच्च-निम्न/ शासक-शासित आदि) का बोध कार्य करता है। परिस्थिति यदि कुछ भिन्न हो, यानि मूल के रचनाकार और अनुवादक दोनों स्त्री ही हों, तो उक्त तरह का विमर्श

---

[45] प्रमीला केपी (2013) : 40.

[46] वही : 39.

[47] वही : 40.

असंभव हो जाएगा।

जेंडर-विमर्श के संदर्भ में, आज की एक बड़ी ज़रूरत है, 'दो लिंगों (स्त्री और पुरुष) वाले विश्व की मान्यता' से आक्रांत इस समाज में अन्य लिंग/लिंगों (किन्नर, लिंग-परिवर्तित, समलिंगी आदि) को भी माक़ूल जगह देना और अब लिंग-संघर्ष और लिंग-संवाद को द्विकोणीय (स्त्री-पुरुष के बीच) की जगह त्रिकोणीय या बहुकोणीय मानना और बनाना। कहना नहीं होगा कि सभ्यता-संस्कृति के तमाम अधिष्ठानों और अनुष्ठानों के साथ-साथ, भाषा-विमर्श और उसके एक ख़ास क्षेत्र, अनुवाद, के संदर्भ में भी यह दृष्टि बेहद प्रासंगिक होगी।

भाषा का लैंगिक स्तरीकरण और थर्ड जेंडर

अब तक हमने पुरुष और स्त्री के संदर्भ में लैंगिक स्तरीकरण के हिसाब से भाषा को देखा है। परंतु, समाज में सदियों से लैंगिक दृष्टि से उपेक्षित पड़े 'थर्ड सेक्स या थर्ड जेंडर' नामक समूह और भाषा के रिश्ते पर एक सरसरी दृष्टि डाल लेना उपयोगी होगा। इस संदर्भ में, यह कहना शायद अनुचित नहीं होगा कि स्त्री तो फिर भी किसी रूप में भाषा में मौजूद है, पर जिसे 'थर्ड जेंडर' कहा जाता है, उसकी स्थिति तो और दयनीय है। वह भाषा-प्रयोग के हाशिये से भी हाशिये पर दिखाई देता है।

हमारे भाषिक समाज का मानस दो लिंगों में इस क़दर अनुकूलित है कि उसमें इनसे अलग किसी तीसरी लैंगिक स्थिति की संभावना ही आम तौर पर ग़ायब ही रहती है। पल्लवी प्रियदर्शिनी ने अपने आलेख ('सांस्कृतिक और भाषिक विषमता के शिकार थर्ड जेंडर') में उक्त स्थिति का चित्रण करते हुए कहा है :

> आधी आबादी ... शब्द अपने-आप में बहुत घातक है, क्योंकि प्रकारांतर से यह परिभाषित कर देता है कि पुरुष और स्त्री मिल कर पूरी आबादी हैं। इस अवधारणा में तीसरे लिंग की जगह कहाँ है? स्त्री तो कम से कम हाशिये पर भी है, भले वंचित-पीड़ित है, पर उसका अस्तित्व तो स्वीकृत है। लेकिन, उक्त तीसरे लिंग को तो पूरी तरह अदृश्य बना कर रख दिया गया है। वह तो हाशिये पर भी नहीं हैं। समस्त जेंडर-विमर्श दो लिंगों में ही विन्यस्त है। स्त्री को तो भाषा, संस्कृति, समाज या हर तरह के विमर्श में थोड़ी बहुत जगह दी भी जाती रही है। लेकिन, जिसके जन्म पर स्वयं चिकित्सक या उसकी माता भी कोई नाम नहीं दे पाती, उसकी जगह कहाँ है? बच्चे के जन्म के तुरंत बाद सभी पूछते हैं कि 'लड़का हुआ या लड़की?' इसके अलावा भी किसी का जन्म हो सकता है, इसकी परिकल्पना भी नहीं होती।[48]

[48] पल्लवी प्रियदर्शिनी (2019) : 212.

सच तो यह है कि 'तीसरे सेक्स' की धारणा शब्दकोशीय स्तर पर ही नहीं मानी गई है, अन्यथा प्राणियों में जैविक लिंग-अर्थक शब्दों के द्वैत (जैसे, नर-मादा, लड़का-लड़की, मेल-फ़ीमेल, बकरा-बकरी आदि) की जगह 'त्रैत' ('नर-मादा-इतर' जैसा) होता। ऐसे में व्याकरणिक स्तर पर 'तीसरे सेक्स' की मौजूदगी की संभावना ही कहाँ बचती थी? फिर भी, देर-सबेर मानव-समाज में मौजूद 'तीसरे सेक्स' रूपी ख़ास वस्तु की पहचान हुई और उसके लिए भाषा में 'षण्ड', 'हिजड़ा', Eunuch आदि कुछ शब्द भी अस्तित्व में आए, पर स्त्रीलिंग-पुल्लिंग वाली भाषाओं में भी उनके लिए स्वतंत्र लैंगिक कोटि नहीं बन सकी। दो से अधिक लिंग वाली भाषाओं (जैसे, संस्कृत, अंग्रेज़ी) में भी 'तीसरे सेक्स' या 'तृतीय लिंग' को अलग दर्जा नहीं दिया जा सका। अंग्रेज़ी में 'न्यूटर जेंडर (नपुंसक लिंग)' तो है, पर वह 'तृतीय सेक्स' के लिए न होकर, निर्जीव पदार्थों के लिए है। संस्कृत में 'नपुंसक लिंग' (क्लीवलिंग) है, पर वह भी 'तीसरे सेक्स' के लिए नहीं है, बल्कि उसमें अंग्रेज़ी की तरह निर्जीव पदार्थ तो आते ही हैं, बल्कि स्त्री और पुरुष से भी संबद्ध बहुत सारे अर्थ आते हैं (जैसे, कलत्रम्, मित्रम्, ममत्वम् आदि); साथ ही उसमें 'तीसरे सेक्स' के वाचक शब्द (जैसे, 'क्लीवम्') भी आ सकते हैं। वैसे 'क्लीव:' रूप भी है, यानि 'तृतीय सेक्स' का वाचक यह शब्द संस्कृत में पुल्लिंग में भी आता है। यदि इन शब्दों के 'व्याकरणिक लिंग' अर्थात् वाक्य-प्रयोग में इनकी लिंगगत अन्विति पर विचार करें, तो स्पष्ट है कि अंग्रेज़ी में इसके एकमात्र संकेतक हैं : ही, शी, इट (सर्वनाम), हिज़, हर/हर्स, इट्स (सार्वनामिक विशेषण), जैसा कि 'व्याकरण और स्त्री' विषयक विवेचन में पीछे कहा जा चुका है। इनमें 'इट' और 'इट्स' नपुंसक लिंग के एकमात्र संकेतक हैं, जिनका प्रयोग 'तीसरे सेक्स' के लिए अब तक नहीं देखा गया है और उसे 'ही/शी' में ही समेटा जाता है। संस्कृत में (खड़ी बोली हिंदी भी) व्याकरणिक लिंग अधिक स्पष्ट और व्यापक रूप से क़ायम है, जिसके क्षेत्र हैं : कृदंत क्रिया और विशेषण। जैसे, यदि 'क्लीवः' कहा तो कृदंत क्रिया 'गतः/गतवान्' आदि से उसकी अन्विति होगी और यदि 'क्लीवम्' कहा तो 'गतम्/गतवंतम्' आदि से। इस तरह उक्त प्रकार की लिंग-व्यवस्था वाली भाषाओं में 'तीसरे सेक्स' को मौजूदा लिंग-व्यवस्था में ही कहीं न कहीं समायोजित करने की विवशता रही है। ('लड़का हुआ या लड़की?' : वाक्य को कथ्य की या लिंग-पूर्वग्रही मानते हुए, हमें व्याकरणिक दृष्टि से भी इसे घेरना पड़ेगा। इस वाक्य में क्रिया 'हुआ' है। ठीक है कि 'तीसरे सेक्स' को भाषाई व्यवस्था में अभी जगह नहीं दी जा सकी है, पर सवाल है कि 'हुआ' क्यों, 'हुई' क्यों नहीं?)

भाषिक व्याकरण में 'तृतीय सेक्स' के लिए जगह न होने के कारण, द्विलिंग (स्त्रीलिंग-पुल्लिंग) वाली भाषाओं (जैसे, हिंदी) में 'तीसरे सेक्स' या 'थर्ड जेंडर' से संबद्ध किसी विवेचन या चित्रण करने वाले के लिए यह भारी समस्या है कि उससे संबद्ध वाक्य 'जाता है' के प्रारूप में गढ़े या 'जाती है' के प्रारूप में? अथवा, 'जाता/जाती' के विकल्पयुक्त प्रारूप में? अगर इस तीसरे प्रारूप का भी चुनाव करें, तो भी समस्या तो है कि 'तृतीय सेक्स' के लिए प्रयोग स्वतंत्र कहाँ हुआ? (यह तो पुरुष और स्त्री का समावेश मात्र है। हिंदी-शब्दकोश में वैसे तो

'हिजड़ा' शब्द पुल्लिंग है, इसके अनुसार 'हिजड़ा जाता है' होना चाहिए था, परंतु इसके बाद भी समस्या बनी हुई है कि आज हिंदी में हिजड़ा 'जाता है' या 'जाती है'? 'जाएगा' या 'जाएगी'?) यह समस्या पर-लेखन और आत्मलेखन : दोनों स्थितियों में समान रूप से रहती है।

इसी संदर्भ में, थोड़ा-सा विचार हम 'नपुंसक लिंग' शब्द पर भी कर लें। यह शब्द एक प्रकार से पुरुष लिंग को महत्त्व प्रदान कर रहा है। जैविक लिंग से रहित (लिंगहीन) पदार्थों अथवा पुरुष-स्त्री से इतर या कुछ जनों को लिंग-निरपेक्ष मान कर 'नपुंसक' कहा गया। नपुंसक, यानि जो 'पुंस्'(= मर्द) न हो, यानि जिनमें पुंसत्व या मर्दानगी का अभाव हो। सवाल है, लिंग-अभाव (अलिंगता) या लिंग-सामान्यता को 'नपुंसक' क्यों कहा गया? उस स्थिति के लिए 'नपुंस्स्त्री' या 'इतर' जैसा शब्द क्यों नहीं दिया गया?

स्त्रीभाषा का सच और स्त्री-अनुकूल भाषा

हम एक बार पीछे लौटते हैं और पूर्वोक्त भाषाविज्ञानियों द्वारा विवेचित 'स्त्रीभाषा' नामक तत्त्व-विशेष अर्थात् 'स्त्रीभाषा' विषयक उनकी पूर्वोक्त मान्यताओं (यानि, स्त्रियों में प्रचलित नकारात्मक भाषिक अभिलक्षणों) पर पुनर्विचार करते हैं। वैसे तो उनमें बहुत सी उपयोगी और नवीन बातें हैं, पर कई बार ऐसा भी लगता है कि उपर्युक्त मान्यताएँ या तो खंडित अध्ययनों या सर्वेक्षणों पर आधारित हैं अथवा उनके खंडित विश्लेषणों की देन अथवा ये पुरुषवादी भाषाविज्ञानियों या उनसे प्रभावित स्त्रीवादियों की देन हैं। कारण, मर्दों में भी उक्त विशेषताओं का नितांत अभाव नहीं होता। उन मान्यताओं में कई बार यह बात भुला दी जाती है कि जिस सांस्कृतिक उत्पाद ('स्त्रीभाषा' नामक भाषा-स्तर विशेष) को स्त्री की सहज-स्वाभाविकता या नैसर्गिकता क़रार दी जाती है, वह मूलतः पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों पर डाले गए बहुमुखी अभाव/वंचना, शोषण व उत्पीड़न के चलते बनी उनकी सँकरी पेशागत परिधि और सीमित या घुटन-भरे परिवेश के आधार पर विकसित अधिरचना है। वे मान्यताएँ स्त्री के भाषिक व्यवहार से संबद्ध तथ्यों की ओर एक सीमा तक (जिस समय या जहाँ ये प्रस्तुत किए गए, उस समय या वहाँ के समाज की संरचना के लिए सत्य) संकेत तो करती हैं, पर उनके प्रति समग्रता में सचेत समझदारी नहीं दिखलातीं। वे ऐतिहासिक व समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री की बिगड़ती-बनती रही स्थिति को अनदेखा-सा करते हुए, उसे जड़ मनोविज्ञान में बाँध डालने की अचेत कोशिश से निकली प्रतीत होती हैं। वे उपर्युक्त स्त्री-भाषा के अलगाव का असली कारण शायद पुरुष व स्त्री के अलग-अलग मनोविज्ञान में निहित मानती हैं, पर कथित अलग-अलग मनोविज्ञान भी तो प्राकृतिक की जगह परिस्थिति-जन्य हो सकते हैं। भाषा का जातीय, क्षेत्रीय, वर्गीय या जेंडर चरित्र एक लंबी आर्थिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया के तहत बनता है। भाषा का उक्त हर प्रकार से बना अधूरापन जीवन-निर्वाह, विकास व ज्ञान के साधनों पर कुछ लोगों/समूहों के एकाधिकार और शेष को उपेक्षित रखने का परिणाम है। लगता है, स्त्रीभाषा के कई चिंतक निष्कर्ष तक पहुँचने के पहले इन बातों पर पुख़्ता या पर्याप्त विचार नहीं कर पाए हैं।

'स्त्रीभाषा' जैसी वस्तु को यदि सामाजिक या भाषाई यथार्थ माना भी जाए, तो बेहतर होगा कि उसे स्त्रियों की भाषिक प्रवृत्ति या उनकी आदत-विशेष के रूप में परिभाषित करने की जगह, उसे ऐसी भाषिक प्रवृत्तियों का समेकित रूप माना जाए, जिनमें से कई प्रवृत्तियाँ किसी समाज में सत्ता-संरचना में निम्न पदानुक्रम पर बैठे व्यक्ति/समूह के भीतर स्वाभाविक रूप से आकार लेती हैं। अर्थात्, उपरिचर्चित अधिकांश विशेषताओं (पूर्वोक्त कुछ ख़ास नकारात्मक या अभावात्मक अभिलक्षणों या प्रवृत्तियों) के साथ कथित 'स्त्रीभाषा' पुरुष भी बोल सकता है, यदि वह अधीनीकरण या निम्नतर स्थिति का शिकार हो। इस प्रकार, 'स्त्रीभाषा' तकनीकी या पारिभाषिक शब्द के तौर पर ही ग्राह्य है। तब, स्त्रीभाषा व्यक्तिवाचक की जगह जातिवाचक संज्ञा हो जाती है। इससे विमर्श के लिए सुविधा हो जाती है, जिससे इस व्याख्या के साथ वह कुछ दूर तक चल सकता है कि स्त्रियों की भाषिक प्रवृत्तियों के अवलोकन के प्रयास में ही सबसे पहले उक्त तरह के नकारात्मक या अभावात्मक अभिलक्षणों का पता चला होगा। इसी कारण, उनका 'स्त्रीभाषा' के नाम से कोटीकरण किया गया और उस समय से यह माना जाने लगा कि हर समाज के स्त्रियों की भाषिक आदतें ऐसी ही होती हैं। परंतु, बाद में यह देखा गया कि कई पुरुष भी इस प्रकार की प्रवृत्तियों, यानि तथाकथित 'स्त्रीभाषा' से बिल्कुल रिक्त नहीं हैं। तब, उक्त शब्द का लाक्षणिक अर्थ-विस्तार हुआ और वह ('स्त्रीभाषा') तकनीकी नाम भर बन कर रह गया।

***

स्त्रियों के जीवन की भौगोलिक और सांस्कृतिक परिधि अत्यंत संकीर्ण रही है; इसके साथ परिस्थिति के एकदम प्रतिकूल होने और उससे मुक़ाबले की माक़ूल ताक़त पास न रहने का बोध भी उनकी सामूहिक अमूर्त चेतना में कार्यरत रहा है, जिससे आत्मसंरक्षण और आत्माभिव्यक्ति हेतु हर समाज में उनकी भाषा में नकारात्मक या अभावात्मक गुणों के रूप पूर्वसंकेतित ऐसे अभिलक्षण-विशेष (कथित स्त्रीभाषा) स्वाभाविक तौर पर उभर आए हैं। इनका निर्माण मूलतः सहज रूप से, पर अल्पतः सायास भी हुआ है, लेकिन कारण-रूप में स्त्री-विरोधी वे परिस्थितियाँ ही हैं, विश्लेषक जिन्हें अनदेखा करके इस भाषा का मूल स्रोत स्त्री की जैविक-मनोवैज्ञानिक संरचना (स्त्री-प्रकृति) में ही खोजने की भूल अकसर कर बैठते हैं। जैसा कि पीछे भी संकेतित है, पूर्वोक्त 'स्त्रीभाषा' वस्तुतः पितृसत्ता द्वारा बनाई गई चौहद्दी में घुटती रही स्त्री का भाषिक अनुकूलन है। आत्म-संरक्षण के तहत स्त्री मुख्यतः बचाव की भाषा का इस्तेमाल करती है और गौणतः प्रतिरोध की भाषा का। ये इस्तेमाल क्रिया की सहज प्रतिक्रिया के रूप में अधिक हैं, सचेत या चालाक कम। स्त्री द्वारा प्रतिरोध की भाषा दो तरह से संभव है :–

1. पुरुष/पुरुष-प्रधान मूल्यों पर कटाक्ष/व्यंग्य करने के रूप में परोक्ष प्रतिरोध।[49]
2. पुरुष/पुरुषवादी व्यवस्था को गाली या चुनौती देने के रूप में सीधे भिड़ंत।[50]

1 को ही स्त्री-भाषा के विचारकों ने इस रूप में कहा कि स्त्री सांकेतिक या घुमा-फिरा कर ज़्यादा बोलती है। 2 की नौबत अपवादस्वरूप ही आती है, लेकिन उसी का प्रचार पुरुषवादी तंत्र में 'तिरिया-चरित्तर' से जोड़ इस तरह किया जाता रहा है, मानो हर औरत काटने को ही दौड़ती हो। यदि कहीं वैसा है भी, तो कारण हैं न! किसी पंछी या बिल्ली को पिंजरे में बंद

---

[49] राजेंद्र यादव (2008) : 14-18.

'देह के साथ 'देह की भाषा' स्त्री का दूसरा सबसे बड़ा हथियार है. बंदिशों के बीच संकेतों और प्रतीकों में वह अपनी निजी और अचूक भाषा विकसित कर लेती है. शब्दों का कितना धारदार और प्रभावी इस्तेमाल किया जा सकता है, यह स्त्री से अधिक कोई नहीं जानता. छोटी-सी पारिवारिक दुनिया के ईर्ष्या-द्वेष, स्वार्थ और सरोकार उसे हमेशा आत्मकेंद्रित या युद्ध की मानसिकता में बनाए रखते हैं : और इन्हें वह भाषा से साधती है ...गुलाम होने का साझा दुख (कॉमन सफ़रिंग) दो स्त्रियों को आपस में जोड़ता है .... द्वेष और दुख की द्वंद्वात्मकता उन्हें आपस में संवाद-सेतु बनाए रखने की प्रेरणा देती हैं. यहीं वह हमारे लिए यानि समाज के लिए अपनी भाषा का 'आविष्कार' करती है ...

'दमन और असुरक्षा के भय के बीच अपने मन की बात कहना स्त्री-मनोविज्ञान की एक दूसरी जटिल स्थिति (फ़िनोमिनन) है. अपने गीतों और स्वगत-कथनों में वह निजी बात को भी लगभग सबकी बात के रूप में ही व्यक्त करती है; ताकि वह 'पकड़ी' न जा सके .... इसे पुरुष ने नाम दिया विधवा-विलाप या औरत की बड़बड़. हारी हुई स्त्री झगड़ालू और लड़ाकी हो जाती है. यह उसका व्यक्तिगत विद्रोह है.

'मगर इस 'विलाप' को शब्द देना स्त्री का पहला विद्रोह है : यथास्थिति की घुटन में छटपटाना ही मुक्ति की प्रेरणा भी बनता है ... बोल कर या लिख कर इन आत्मोक्तियों में जब वह अपनी पारिवारिक या सामाजिक दुर्दशाओं के विवरण देती है तो अपनी नियति के ख़िलाफ़ विद्रोह भी कर रही होती है ...

एक स्थिति में अपने आप में बात करना स्त्री का रिलीफ़ है. परिवार और समाज के लोग स्त्री के इन आत्म-प्रलापों पर या तो हँसते हैं या उसकी उपेक्षा करते हैं. लेखन उसके आत्मकथन का उदात्तीकरण करता है. स्त्री की हर आत्मकथा अपनी यातनाओं की ऐसी निजी दास्तान है जो घर-घर में घटित होती है. पुरुषों की आत्मकथाएँ उनके निजी संघर्षों की विजय गाथाएँ हैं **...** अपनी बात कह कर स्त्री अपने भीतर के उस भय को जीतती है, जिसे परिवार और समाज ने हज़ारों सालों में उसके असुरक्षित अस्तित्व का पर्याय बना दिया है .... दलितों की तरह स्त्रियों की प्रारंभिक रचनाएँ, चाहे वे आत्मकथ्य हों, कविता-कहानी हों या दूसरी अभिव्यक्तियाँ, जेल से भागे हुए क़ैदियों की व्यथा-कथाएँ ही हैं.'

[50] लीना यादव निर्देशित *पार्च्ड* फ़िल्म (2015) चार औरतों : जानकी (लहर ख़ान), रानी (तनिष्ठा चटर्जी), लाजो (राधिका आप्टे) और बिजली (सुरवीन चावला) की कहानी है. उसका एक दृश्य भाषा के लैंगिक चरित्र की दृष्टि से पूरे हिंदी सिनेमा के इतिहास में बहुत ख़ास है, जिसमें बिजली के नेतृत्व में *पार्च्ड* की उक्त चारों नायिकाएँ मर्दवादी गालियों का प्रतिसंसार रचती हैं! चूँकि वे भी समाज की उसी कथित 'आम भाषा' में ढली हुई हैं, जिसकी गालियों का एक बड़ा हिस्सा औरत की यौनिकता पर हमला (बलात्कार) के आशयों से दूषित है; अतः अपनी बातचीत में वे चाहे-अनचाहे मर्दों को जब उद्धृत करती हैं, तो 'माँ-बहन' की उन्हीं गालियों के साथ. पर, उक्त दृश्य में **बिजली** को जब अचानक यह बोध होता है कि 'इन्हें बनाने वाले सारे मर्द हैं, क्योंकि हर गाली में वे औरतों का बलात्कार ही करते रहते हैं'; तब प्रतिकार में वह उन गालियों में निहित यौन-दलन की प्रवृत्ति का मुँह मर्द-संबंधों ('बेटा, भाई, बाप और चाचा') की ओर घुमा कर, बाक़ी तीनों औरतों को अपने साथ ले कर चिल्ला उठती है: *'मादरचोद, साले ये गालियाँ बनाने वाले सारे मर्द ही होंगे न! हर गाली में साले औरतों को चोदते ही रहते हैं ये मादरचोद, बहनचोद साले! इन को साला कोई नहीं चोदता, हरामी लोगों को. बेटाचोद! ...चाचाचोद! तेरा पापाचोद! ... बापचोद! बेटाचोद! भाईचोद! चाचाचोद!'*

इस तरह से उक्त चारों नायिकाएँ स्वर में स्वर मिला कर अपने अनजाने में पितृसत्ता की भाषिक गुंडागर्दी से भिड़ने का व्याकरण रचने लगती हैं.

करके उसे नोचते या डंडे से परेशान करते रहो और उम्मीद करो कि उसकी प्रतिक्रियाएँ एकदम सरल हों : बिना लाल-पीली आँखों वाली, बिना किसी तरह के तीखेपन के! यह एक तथ्य है कि जीवन से जुड़ी ज़रूरतों या साधनों को लेकर जिसे जितनी ही बड़ी और विविधतामयी भौगोलिक व सांस्कृतिक परिधि में घूमना पड़ता है, उसकी भाषा उतनी ही सशक्त, समृद्ध व जीवंत होती है। आम तौर पर पाई जाने वाली स्त्री की भाषिक अशक्तता या लचरता का मूल कारण है उस पर थोपा गया सीमित, घुटनभरा परिवेश। सवाल है : स्थानीय शब्दावली, लोकभाषा या लोक-साहित्य (जैसे लोकगीत) स्त्री की ही ख़ास चीज़ क्यों रहे हैं? जब किसी को इंटरनैशनल या यूनिवर्सल होने से रोका जाएगा, तो वह लोकल हो कर ही तो रहेगा।

'स्त्री-भाषा' नामक यह तत्त्व पितृसत्ता से ग्रस्त विषम समाज में पनपा और विकसित हुआ है। यदि लिंग की दृष्टि से पूर्ण समतामूलक समाज अस्तित्व में आ जाए, तो स्त्रियों की भाषा का क्या रूप होगा, यह विचारणीय है। अथवा, उस प्रकार के समाज की दिशा में अग्रसर होने के लिए स्त्रियों की या आम वांछित भाषा का रूप क्या हो ? : यह भी विचारणीय है। भाषा के उपर्युक्त अधूरेपन के संदर्भ में, शेष आधी भाषा या इस कथित 'स्त्री-भाषा' पर विचार करना बेहद ज़रूरी है, क्योंकि इसी शुरुआत में लैंगिक दृष्टि से भाषा की अपूर्णता या अपंगता दूर करने अथवा उसका 'जेंडर-जस्टिस'-परक पुनर्गठन करने के बीज निहित हैं।

दुनिया के अनेक हिस्सों में चिरकाल से उपेक्षित पड़े/रखे गए समूहों में चहुँओर नवजागरण और बहुमुखी सशक्तीकरण या मुक्ति की विगत कई दशकों से उठ रही लहरें आज परवान चढ़ रही हैं और तज्जन्य गंभीर विचार करने का दौर अब बहुत आगे निकल चुका है। ऐसे समय में स्त्री-विमर्श भी कई कोणों से नए-नए तेवरों के साथ प्रचलित रूढ़ वैचारिकी में अपने दमदार हस्तक्षेप से उसके दुर्ग का भेदन रहा है। परंतु, कतिपय वैचारिक मंचों से आए दिन ऐसा भी महसूस किया जाता रहा है कि हिंदी का (और संभवतः भारत का ही) स्त्री-विमर्श अब तक अपनी कोई निजी या ख़ास भाषा विकसित नहीं कर पाया है, एक हद तक जिस तरह की भाषा दलित-विमर्श के पास विकसित हो चुकी है। (पता नहीं, यह बात कितनी सच है?)।[51] अगर यह सच है, तो इसमें दो राय नहीं है कि बिना उचित भाषा के विमर्श भी ठीकठाक

[51] राजेंद्र यादव (2008) : 11-12. 'स्त्री-विमर्श का सबसे जटिल पहलू यह है कि उसे पुरुष-भाषा के वर्चस्व में ही अपनी बात कहनी है, क्योंकि उसकी अपनी कोई भाषा नहीं है'. अभय कुमार दुबे (सं.) , (2014) : 122-23.

हिंदी के स्त्री-रचना-संसार (विशेषकर मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा और प्रभा खेतान के साहित्य) पर एक दृष्टि डालते हुए, समाज-विज्ञानी अभय कुमार दुबे को ऐसा महसूस होता है : 'मुझे उनकी भाषा में कोई भी ऐसा नया मुहावरा नहीं दिखा जो कि पुरुषों की भाषा में नहीं दिखाई पड़ता है. मुझे तो उसके अंदर कई चीज़ें बहुत ही सपाट लगीं. हाँ, मैं उनकी विषय-वस्तु से बहुत प्रभावित हुआ. लेकिन, जहाँ तक भाषा का सवाल है, रूप का सवाल है, शिल्प का सवाल है, उस धरातल पर मुझे उन रचनाओं के अंदर ऐसी कोई विशेष बात नहीं दिखाई दी कि जो पुरुष न लिखता हो और स्त्री होने के कारण उसके अंदर कोई नई बात पैदा हो गई हो ... दलित-साहित्यकारों के लेखन में मैं बहुत से मुहावरे, बहुत सी युक्तियाँ देखता हूँ, जो ग़ैर-दलित-साहित्यकारों के लेखन में नहीं मिलते. जैसे एक दलित कहानी का मुझे शीर्षक याद नहीं आ रहा है, पर उसके अंदर जब प्रेमी अपनी प्रेमिका के गोरे होने का वर्णन करता है तो वह कहता है कि उसकी त्वचा बाघ की जीभ की तरह गोरी थी. तो बहुत चौंकाने वाला शिल्प है यहाँ पर. लेखिकाओं में मुझे सिर्फ़ कृष्णा सोबती अपवाद लगती हैं जिन्होंने सायास कोशिश करके एक नई भाषा

नहीं चल सकता। इस स्थिति में वह भटकता या लुढ़कता-पुढ़कता ही रहेगा। इस लिहाज़ से भी 'आधी भाषा' के उक्त सवाल या 'स्त्री-भाषा' अथवा 'स्त्री के प्रति भाषा के बर्ताव' पर विचार करना बेहद प्रासंगिक है।

अपने ऐतिहासिक अवमूल्यन और बहुमुखी शोषण-दलन से मुक्त होने तथा पूरी तरह इंसान बनने के लिए, स्त्री को अपनी परिस्थिति को समझना और आत्ममंथन करना होगा। आज तक 'स्त्री' और 'स्त्री के लिए' को जिस तरह प्रस्तुत किया गया है, उसकी चीर-फाड़ करनी होगी; साथ ही उन पर सवाल खड़े करते हुए ख़ुद को सही रूप में व्यक्त करने (आत्माभिव्यक्ति) की राह चुननी होगी । स्त्री-मुक्ति की प्रक्रिया में हिस्सेदारी तो समता-कामी हर व्यक्ति कर सकता है और उसे करना भी चाहिए, लेकिन स्त्री को सबका सहयोग लेते हुए भी भरोसा अपने ऊपर ही करना होगा, क्योंकि कोई मुक्ति भीख, भेंट या दान नहीं होती, कठिन संघर्षों से प्राप्त उपलब्धि होती है। चूँकि मानव की मति और कृति का बहुलांश भाषा में ही व्यक्त होता है और हमने देखा है कि स्त्री के प्रति भाषा का बर्ताव सम्मानजनक व न्यायोचित नहीं रहा है, इसलिए बात भाषा से ही शुरू करनी होगी। उस पर काम करना हमारी प्राथमिकता होगा। इस प्रक्रिया में सबसे पहले तथाकथित 'आम भाषा' और स्त्रियों की भाषा का सर्वांग परीक्षण करना होगा : 'जेंडर' संबंधी स्तरीकरण से निर्मित 'स्त्री-भाषा' जो हमें प्राप्त होती रही है, उसकी भी पड़ताल करनी होगी। फिर, अधिक मानवीय व लोकतांत्रिक भाषा या उसकी संभावना का सृजन करना होगा। ये दोनों (परीक्षण और सृजन) एक पर एक नहीं, बल्कि युगपत् रूप से चलेंगे और एक के घटित होने में दूसरे का स्वतः उभार निहित है।

परीक्षण का कार्य दो स्तरों पर करना होगा (जैसा कि इस आलेख में जगह-जगह हम करते आ रहे हैं) :

1. स्त्री के प्रति कथित 'आम भाषा' के रवैये या बर्ताव की जाँच
2. स्त्री की भाषा और उसमें विकसित हुए अभिलक्षण-विशेष (कथित 'स्त्री-भाषा') की जाँच।

(जैसा कि हमने देखा है) पहले से इस सच का पर्दाफ़ाश होता है कि उक्त 'आम भाषा' स्त्री के अनुभव, समस्या/पीड़ा की अभिव्यक्ति में (उचित शब्द/मुहावरेदारी के अभाव एवं पुरुष-प्रभावी शब्द/वाक्य-गठन के कारण) अक्षम तो है ही; ऊपर से स्त्री-विरोधी/दोहन-शोषणकारी ढाँचों या स्थितियों को सहज स्वाभाविक रूप देते हुए उनका महिमामंडन तक करती है (जैसे : 'पतिव्रता','माँ','परिवार के आगे कैरियर को भी छोड़ दिया' आदि कहना) और सब मिला कर जेंडरवादी छद्म अस्मिताएँ गढ़ती हैं। स्त्री के सहज सच को अभिव्यक्ति देना इसके बूते के

गढ़ने और पुरुष लेखकों से भिन्न होने की कोशिश की है.' पर, मैत्रेयी पुष्पा के साहित्य में यौन-प्रसंग के आने पर उनके अनुसार चित्रण कुछ अलग तरह का या विशिष्ट महसूस होने लगता है, जहाँ पुरुष-यौनिकता और स्त्री-यौनिकता की सत्ता-संरचना को लेखिका उलट के रख देती हैं. उनकी इस कामयाबी के पीछे उन्हें क्यों लगता है कि शायद वे अपनी मानसिक दुनिया में देह के प्रति सहज होंगी; ऐसा नहीं कि परिवार के बारे में बात करते देह को अंडरग्राउंड कर दिया गया हो.

बाहर की बात लगती है। अपने मुहावरों/लोकोक्तियों, कथित सम्मानसूचक (जैसे सती, देवी, सुंदरी आदि) और अपमानकारी (जैसे कुलटा, डाइन, बाँझ आदि) शब्दावलियों से उसे सामान्य मनुष्यता की परिधि से परे कर देने वाली भाषा है वह। कुल मिला कर, यह स्त्री के प्रति भाषिक आतंकवाद का मामला है। यह पुरुष-भाषा स्त्री भी बोलती है या जो कथित स्त्री-भाषा बोलती है वह भी पुरुष-भाषा के प्रभाव से मुक्त नहीं होती। तभी तो आम तौर पर किसी स्त्री की प्रशंसा करनी हो तो उसे 'सती', 'सुंदरी' आदि ही वह कह पाती है और कोसना या फटकारना हो तो वह 'छिनाल', 'साली' आदि कह डालती है। इसी तरह, स्त्री पुरुष को गाली देते 'साला' आदि शब्दों का प्रयोग कर बैठती है (जब कि 'साला' व 'साली' मर्द के लिए ही संभव है)। इस प्रक्रिया में वह इन शब्दों में नया अर्थ भरती और इस तरह से शब्दार्थ-संबंध यानि धीमी गति से भाषा को भी बदलती रहती है। इसी तरह प्रचलित शब्दावली को कुछ-कुछ विस्थापित करते या उसमें कुछ नई मिलावट करते हुए भी स्त्री कथित 'आम भाषा' को किसी न किसी मात्रा में पुनर्गठित कर अथवा बदल रही होती है (जैसा कि पूर्व-उद्धृत *पार्च्ड* फ़िल्म की नायिकाएँ मर्दवादी गालियों के संदर्भ में करती हैं, देखें संदर्भ-संख्या 50)। परंतु, इससे भाषा इतनी नहीं बदल पाती, जिसमें स्त्री अपने को पूर्णतया व्यक्त कर सके। उसमें किसी सीमा तक ही अपने सुख-दुख, पीड़ा को वह व्यक्त कर पाती है। भाषा के लिंग-चरित्र में जो बदलाव हमारा काम्य है, वह तो विशाल सांस्कृतिक और किसी हद तक सचेत प्रक्रिया द्वारा ही संभव है।

किसी समाज में प्राप्त स्त्री-भाषा कथित आम भाषा से जिस मात्रा में विलक्षण होगी, उसी मात्रा में वह इस बात की संकेतक होगी कि वह समाज स्त्री-पुरुष के बीच अधिकाधिक अलगाव और भेद-भाव की समस्या से ग्रस्त समाज रहा है। एक हक़ीक़त है कि आज स्त्री-भाषा (लिंग-बोली) की मात्रा घटती जा रही है।[52] इसका कारण यह है कि सभ्यता के अधिक समतामूलक विकास के साथ स्त्री-पुरुष के बीच का गैप घटता जा रहा है और स्त्री के कुछ कहने-बोलने और लिखने की हैसियत लगातार मज़बूत होती जा रही है, जिससे भाषा में स्त्री के लिए जगह बढ़ती जा रही है। इससे स्त्री भी पुरुष के समान भाषिक क्षमताओं और विशेषताओं से संपन्न होती जा रही है। इससे जेंडर के संदर्भ में धीरे-धीरे कुछ हद तक एक सार्वजनीन सी भाषा आकार ले रही है। इसे कुछ विचारक पुरुष-भाषा में स्त्री के ढलने के रूप में भी देख सकते हैं। स्त्री और पुरुष का अलगाव उस तरह का नहीं है, जैसे नई दिल्ली से पटना का अलगाव है। इसलिए स्त्री की भाषा पुरुष से उतनी भिन्न नहीं हो सकती, जितनी नई दिल्ली

---

[52] देखें - 'प्रतिमान-16' में प्रकाशित इस आलेख के पहले हिस्से की संदर्भ-संख्या 49 और 54.
(सुकुमार सेन, *पृष्ठ : 58-59 : ... आधुनिक समय में अपेक्षाकृत कम सभ्य लोगों ने लिंग-बोली को अक्षुण्ण रखा है. प्रशांत महासागरीय द्वीपों के कुछ मूल निवासियों के संबंध में यह सत्य है ... यद्यपि आधुनिक सभ्य लोगों में समुचित लिंग-बोली नहीं पाई जाती तथापि प्रायः सभी समुदायों में ऐसी विशिष्ट मुहावरेदारी परिलक्षित है, जो पूरी तरह से स्त्रियों तक ही सीमित है ... कुछ पुरुषों की स्त्रियों को अपने पति अथवा श्रेष्ठ जनों का नाम लेने से मनाही होती है. आधुनिक सभ्य स्त्रियों की भाषा में निश्चित रूप से ऐसी विचित्रताएँ समाप्त हो चुकी हैं.).*

से पटना की भाषा भिन्न है। दोनों की भाषाओं में सामान्यता या औसतपन ज़्यादा है, विलक्षणता कम।[53] यहाँ सांस्कृतिक विभेद (जेंडर) को तो पूरी तरह ख़ारिज किया ही जा रहा है, बल्कि प्राकृतिक विभेद (सेक्स) या उसके प्रभाव को भी यथासंभव कम करने की बात की जा रही है। स्त्री-पुरुष जब साथ-साथ हैं और उनके साथ-साथ रहने के सिलसिले व दायरे जब निरंतर बढ़ते जाएँगे, तो उनकी भाषाएँ नदी के दो किनारों की तरह कितनी देर तक चल सकती हैं? दोनों की सामान्यता के आधार पर गंगा-जमुनी भाषा को तो आकार लेना ही लेना है। स्त्री-पुरुष दो अलग-अलग पैकेटों में (अंतःपुर और बाह्य संसार) में जितना ही अधिक रहेंगे, उनकी भाषाएँ उतनी ही अलग-अलग होंगी। जितना ही ये पैकेट सटेंगे, मिलेंगे और फलतः टूटेंगे, उतने ही सार्वजनीन तत्त्व भाषा में प्रकट होते जाएँगे। स्त्री के लायक़ भाषा की रचना इसी सार्वजनीनता की मात्रा पर ज़ोर दे कर की जा सकती है।

परंतु, यह बात भी भूलने की नहीं कि स्त्री पुरुष के बराबर इंसान होने के साथ-साथ किसी मात्रा में उससे विलक्षण इंसान भी है। पुरुष की तुलना में स्त्री की जो ख़ास तरह की जैविकता और उससे जुड़ी कुछ विशिष्ट अनुभूतियाँ-संवेदनाएँ, समस्याएँ या स्थितियाँ हैं, उनके लिए भाषा में कुछ अलग से जगह होनी ही चाहिए। शरीर और उसकी बाह्य क्रिया (जैसे पेशाब) आदि को लेकर (बच्चे और बच्ची में) अलगाव से जुड़ा बच्ची का अनुभव, बच्चे-बच्ची के बीच के विभेदीकरण (वस्त्रादि से ढकने में भेद) का बच्ची पर प्रभाव, वयःसंधि के दौरान लड़की में प्रकट हो रहे मुख्य और गौण लैंगिक लक्षणों (स्तन आदि का उभार) का प्रादुर्भाव, मासिक स्राव, संभोग, गर्भ-धारण, गर्भावस्था की दैहिक कठिनाइयाँ, पीड़ाएँ और संवेदनाएँ, गर्भ को पालना, प्रसव और उसकी यंत्रणाएँ, स्तनपान, शिशु का लालन-पालन, (पितृस्थानीय या पितृ-आवासीय विवाह में) पितृगृह से विदाई, मैके में आगमन, यौन-हिंसा (बलात्कार), गर्भोत्तर प्रभाव (हार्मोनल और आंगिक परिवर्तन, भार बढ़ना आदि), रजोनिवृत्ति (स्त्री का चिड़चिड़ापन और ख़ुद को बेकार महसूस करने का अनुभव), बंध्याकरण (ट्यूबेक्टॉमी), गर्भाशय निकलवाना (हिस्टेरेक्टॉमी) आदि से जुड़े अनुभव एकमात्र स्त्री-अनुभव हैं,[54] जो

---

[53] स्टालिन के पूर्वोक्त मत से यह तुलनीय है, जिसमें उन्होंने कहा है कि किसी समाज के अलग-अलग वर्गों की भाषा मूलतः एक ही होती है, क्योंकि व्याकरण-तंत्र और मूल शब्दावली के स्तर पर उनकी विभाषाओं में अलगाव नहीं होता. (देखें – 'प्रतिमान-16' में प्रकाशित इस आलेख के पहले हिस्से की संदर्भ-संख्या 48)

[54] इसी तरह थर्ड जेंडर के भी कुछ ख़ास जैविक और सांस्कृतिक अनुभव होंगे, जो स्त्री-पुरुष दोनों से विलक्षण होंगे. इसी तरह पुरुष के भी कुछ ऐसे अनुभव होंगे, जो स्त्री या थर्ड जेंडर से हट कर होंगे. (जैसे : मातृस्थानीय या मातृ-आवासीय विवाह, जिन की स्थिति भारत में बहुत कम है, में मर्द का अनुभव भी द्रष्टव्य रहेगा अथवा प्रचलित विवाह या स्त्री-पुरुष संबंध के ढाँचे में ही पुरुष के प्रति हो रही हिंसा का अनुभव भी द्रष्टव्य रहेगा.) हाँ, एक बात है कि चूँकि कथित 'आम भाषा' पुरुष-प्रभावी भाषा है, अतः कथित विलक्षण पुरुष-अनुभवों को तो उनमें जगह बहुत हद तक स्वतः मिली ही रहती है.

यहाँ यह ध्यान रहे कि समाज के सदस्य के रूप में मानव को जो अकसर अनुभव होते हैं, वे विशुद्ध जैविक अनुभव नहीं होते, बल्कि वे **'जैविक + सांस्कृतिक'** के मिश्रित रूप में होते हैं. उदाहरणस्वरूप, लड़की/ स्त्री के बलात्कार की पीड़ा जैविक से अधिक सांस्कृतिक है, जो उसके भीतर शर्म, अपराधबोध, वितृष्णापूर्ण निराशा ('मैं सड़ गई, ख़राब या बेकार हो गई' जैसे रूप में') आदि जगा देती है. इसी तरह, पुत्र या संतान न होने से जुड़ा औरतों का दुःख भी जैविक से अधिक सांस्कृतिक ही है, क्योंकि उनकी उक्त सामान्य स्थिति को निरंतर उपेक्षा, अपमान आदि के ज़रिये समाज इस हद तक जटिल और विषम बना देता

पुरुष के भीतर नहीं हो सकते। इस आधार पर सामान्य सैद्धांतिकी तो यही बनाई जा सकती है पुरुष-प्रभाव में विकसित भाषा (कथित आम भाषा) में इन्हें अभिव्यक्त करने की क्षमता या तो हो नहीं सकती या ठीक-ठाक नहीं हो सकती अथवा अभी तक पैदा नहीं हो सकी है। पर, यह कहना भी ख़तरे से ख़ाली नहीं है। कारण, आम पुरुष के लिए तो मोटे तौर पर यह सत्य हो सकता है, पर जो पुरुष रचनाकार हो तब? जैविक आँख से परे, रचनाकार की एक तीसरी आँख भी होती है : कल्पना या प्रतिभा की आँख। एक ख़ास स्तर पर, रचनाकार न पुरुष होता है, न स्त्री, न थर्ड जेंडर : इस सैद्धांतिक संभावना को हम क्यों नकारें? उदाहरणस्वरूप, हिंदी की एक मशहूर कविता का अंश प्रस्तुत है : 'धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने / मैके में आई बिटिया की तरह मगन है। फूली सरसों की छाती से लिपट गई है / जैसे दो हमजोली सखियाँ गले मिली हैं।'[55] अगर कवि (केदारनाथ अग्रवाल) का नाम पहले से पता नहीं हो, तो 'स्त्री-अनुभव' और 'पुरुष-अनुभव' अथवा 'स्त्री-भाषा' और 'पुरुष-भाषा' के प्रचलित फ़ॉर्मूले पर (अनामिका आदि के पूर्वोक्त प्रतिपादनों के आधार पर) तो यह रचना आराम से स्त्री रचयिता की मान ली जाती। इसका मतलब हुआ कि रचना में स्त्री-अनुभवों को चित्रित करने के लिए जैविक रूप से स्त्री होने की अपेक्षा दृष्टि या मिज़ाज से स्त्री होना अधिक ज़रूरी है। पर, इस तथ्य से भी इनकार करना संभव नहीं है (जैसा कि स्त्री-लेखन के संदर्भ में महादेवी वर्मा के मत को प्रस्तुत करते हुए पीछे कहा गया है) कि दृष्टि या मिज़ाज का देह से भी कुछ संबंध है, भले अनिवार्य या आत्यंतिक संबंध न हो। प्रतिभा (कल्पना) या 'सहानुभूति' की बदौलत, भले कुछ भी, किसी का भी 'सच' कहा या रचा जा सकता हो, फिर भी 'स्वानुभूति' का रंग या आँच अपनी ही होती है, इससे भी इनकार करना मुश्किल है।

इससे यह बात निकल कर आती है कि सीमित अर्थ में ही सही स्त्री-भाषा की रचना होनी चाहिए। पर, इस काम्य स्त्री-भाषा को तकिया-कलाम, कोमल, झिझक-भरी, लड़खड़ाती, लचर आदि कोटि का पर्याय बना देना ठीक नहीं। पितृसत्ता में स्त्री-संबंधी जो रूढ़ मान्यताएँ बना दी गई हैं, उनसे सावधान रह कर स्त्री अपनी भाषा को वैसा रूप दे, जिसमें कुछ ख़ास स्त्री-अनुभवों या स्त्री-संवेदनाओं को (आरोपित सांस्कृतिक स्त्रीत्व के फलस्वरूप स्त्री में हो

है कि उन का जीना मुहाल हो जाता है.

[55] केदारनाथ अग्रवाल (2009) की रचना 'धूप' : 63.

धूप चमकती है चाँदी की साड़ी पहने / मैके में आई बिटिया की तरह मगन है.
फूली सरसों की छाती से लिपट गई है / जैसे दो हमजोली सखियाँ गले मिली हैं.
भैया की बाँहों से छूटी भौजाई-सी / लहँगे की लहराती लचती हवा चली है.
सारंगी बजती है खेतों की गोदी में / दल के दल पक्षी उड़ते हैं मीठे स्वर के.
अनावरण यह प्राकृत छवि की अमर भारती / रंग-बिरंगी पंखुरियों की खोल चेतना.
सौरभ से मह-मह महकाती है दिगंत को / मानव मन को भर देती है दिव्य दीप्ति से.
शिव के नंदी-सा नदिया में पानी पीता / निर्मल नभ अवनी के ऊपर बिसुध खड़ा है.
काल काग की तरह ठूँठ पर गुमसुम बैठा / खोई आँखों देख रहा है दिवास्वप्न को.

रही जैविक अनुभूति को भी) समेटने और अभिव्यक्त करने की क्षमता हासिल हो सके, साथ ही आम या व्यापक ज्ञान/बोध/संवेदनाओं के विशाल संसार को भी सँभालने की क्षमता वह रखे। यह कार्य बड़ा चुनौती भरा है। यह भाषाशास्त्र के क्षेत्र में नहीं, भाषा के समाजशास्त्र के क्षेत्र में खोजने या रचने का है। यानि, यह केवल भाषाशास्त्रीय मुद्दा नहीं, बल्कि समग्र सांस्कृतिक परिवर्तन से संबद्ध मुद्दा है, जो अनिवार्य रूप से राजनीतिक भी है, क्योंकि स्त्रीत्व व पुरुषत्व जैसे वर्गीकरण का जीवविज्ञान से उतना ताल्लुक़ नहीं है, जितना शक्ति/सत्ता के असमान वितरण से। स्त्री बड़े पैमाने पर लेखन में उतर कर या आत्माभिव्यक्ति करके ही पुरुष-भाषा से मुक्त हो सकती है। उसके माध्यम से सबसे पहले वह ख़ुद को जगह दिला सकेगी, वैचारिक/व्यक्तिगत स्तर पर मुक्त हो सकेगी। इसी के साथ, उसी के ज़रिये वैचारिकी के केंद्र में स्त्री-मात्र को ला सकेगी और उसके ज़रिये भाषा को भी ठीक कर सकेगी। भाषा के केंद्र में स्त्री को लाते हुए वह भाषा का सकल लिंग-चरित्र बदल सकेगी। स्त्री-विरोधी संरचनाओं/संस्थाओं और मूल्यों के विरुद्ध संघर्ष जितने तेज़ होंगे, स्त्री-हितों की रक्षा और विस्तार की कोशिशें जितनी ही तेज़ होंगी, भाषा को स्त्री के लायक़ बनाने की संभावनाएँ उतनी ही प्रबल होंगी। स्त्री के संघर्ष के बिना उसके अनुकूल भाषा की रचना संभव नहीं, पर ऐसी भाषा के बिना स्त्री-संघर्ष को समुचित आकार या दिशा देना भी तो संभव नहीं। लेकिन, यहाँ सत्य का एक पक्ष यह भी है, जैसा कि सुप्रसिद्ध सामाजिक भाषाविज्ञानी डॉ. रामविलास शर्मा कहते हैं – 'जैसे समाज के पुराने ढाँचे में उत्पादन और वितरण के नए तरीक़े स्वत-स्फूर्त ढंग से पैदा होते हैं और इन नए तरीक़ों के अनुरूप नए सामाजिक संबंध मनुष्य की योजना के अनुसार नहीं, वरन उसकी इच्छा से स्वतंत्र, सामाजिक विकास के नियमों के अनुसार क़ायम होते हैं, वैसे ही मनुष्य बुद्धि से, सोच कर, योजना के अनुसार भाषा नहीं रचता, वरन उसकी जीवनयापन की आवश्यकताओं के अनुसार वह स्वतः स्फूर्त ढंग से निर्मित होती है।'[56] वांछित भाषा की सहज रचना-प्रक्रिया चलती रहे, इसके लिए, ऐसी ज़रूरतें यानि उत्प्रेरक तथा आधारभूत उपर्युक्त परिस्थितियाँ पैदा की जा सकती हैं या कम से कम उनमें तेज़ी लाई जा सकती है।

यहाँ एक और तरह की सैद्धांतिक संभावना पर थोड़ा विचार कर लेते हैं, जो 'स्त्रीभाषा' की अवधारणा के अब तक विचारित प्रारूप से थोड़ा आगे बढ़ कर है। मानव-समाज में इस तरह के द्विधा स्तरों/कोटियों के भाषा-प्रयोग देखने में आते हैं : (कथित) कोमल-कठोर, (कथित) नरम-गरम, (कथित) सहमा-मुखर, (कथित) सरल-कठिन, भावात्मक-तर्कप्रधान[57]

---

[56] रामविलास शर्मा (2008) : 65.

[57] **भावात्मक भाषा :** 'भावात्मक भाषा' यानि 'भाषा-प्रयोग की भावात्मक स्थिति' प्रस्तुत अध्येता द्वारा भाषा को समझने के क्रम में स्वयं के स्तर पर उपलब्ध किया गया एक अवधारणात्मक पदबंध है. उसके अनुसार, भावात्मक भाषा मानव-मात्र की विशेष स्थिति है, जिसमें भावातिरेक में भाषा तर्क या कारण-कार्य-संबंध का त्याग कर देती है. उदाहरणस्वरूप, किसी प्रसंग में कोई व्यक्ति क्रोध से अभिभूत हो कर, किसी के बारे यदि ऐसा कहता है कि 'यह गाँव में सबसे चौपट आदमी है', तो यह भावात्मक भाषा-प्रयोग है. कारण, इस में तर्क या कारण-कार्य का कोई हिसाब नहीं रखा गया है. क्या ऐसा कहने के पूर्व, वक्ता के सामने गाँव के सभी चौपट लोगों की कोई सर्वे-रिपोर्ट और तुलनात्मक अध्ययन मौजूद रहे हैं? इसी तरह कोई साहित्यालोचक

आदि। अगर कुछ देर के लिए पहली कोटि (यानि, कथित मुलायम, थोड़ी सरलता वाली या सहमी अथवा तर्काश्रित के बजाय भावात्मक भाषा) को 'स्त्रीभाषा' की संज्ञा दी जाए और दूसरी को 'इतर भाषा' या 'पुरुषभाषा' की, तो यह प्रतिपादित किया जा सकता है कि किसी ऐसे मानव-समाज में, जो शोषणमुक्त, ग़ैर-स्तरीकृत स्वस्थ समाज हो, यहाँ भाषा चाहे मर्द की हो या औरत की, दोनों सामान्यतः कथित 'स्त्रीभाषा' और कथित 'पुरुषभाषा' के मिश्रण से बनी होंगी। मानवमात्र के काम्य भाषा-प्रयोग का सामान्यतः पैटर्न इसी को माना जा सकता है। कारण, हर मानव (चाहे वह स्त्री हो या पुरुष) जीवन में स्वाधीनता-अधीनता, कोमल-कठोर, भावात्मक-तार्किक आदि द्विधा स्थितियों से गुज़रता रहता है। ऐसे में स्वाभाविक है कि उसकी भाषा की संघटना दोनों तत्त्वों से होगी। अर्थात् कथित कठोर, गरम, मुखर, कठिन या तर्काश्रित भाषा अनिवार्यतः मर्द बोलते हैं और इनके विपरीत गुणों वाली भाषा अनिवार्यतः स्त्रियाँ : ऐसा विचार परिस्थितिजन्य भर है, जो आत्यंतिक रूप से या सार्वकालिक सत्य नहीं है।

अब, स्त्री के लिए काम्य भाषा-प्रारूप की बात कर भाषा और स्त्री के संबंध पर चल रहे इस विमर्श को समेटते हैं। इसे इस तरह से सूत्रबद्ध किया जा सकता है :

> कथित 'आम भाषा' (पुरुष-प्रभावी भाषा) और कथित 'स्त्रीभाषा' के द्वंद्व और परस्पर रासायनिक प्रक्रिया से बने 'भाषा के लोकतांत्रिक संस्करण' में जैविक स्त्रीत्व और उससे संबद्ध स्थितियों की अभिव्यक्ति में समर्थ भाषा को मिलाने से ही स्त्री के लिए काम्य भाषा का प्रारूप उभर कर सामने आ सकता है। इसका मतलब हुआ कि स्त्री के लिए वांछित भाषा पुरुष – भाषा के बिल्कुल समांतर या व्यतिरेकी नहीं होगी, बल्कि उससे थोड़ी सी विशिष्ट, पर अधिकतर सामान्य होगी। उसका सबसे बड़ा प्रकार्य होगा स्त्री-संबंधी ऋणात्मक या धनात्मक स्टीरियोटाइप को तोड़ कर उसे सामान्य इंसान के रूप में अभिव्यक्त करने का, पर उसमें किंचित् मात्रा में विद्यमान जैविक स्त्रीत्व को बचाते हुए। ऐसी भाषा की रचना न केवल पितृसत्ता द्वारा स्त्री के संबंध में गढ़ी गयीं निर्मितियों से मुक्त रह कर, वरन नारीवादियों द्वारा (प्रतिक्रियास्वरूप) गढ़ी गई कुछ और इस तरह की निर्मितियों से भी मुक्त हो कर ही की जा सकती है। स्त्री को न पुरुष-भाषा का दामन पकड़े रहना है, न पितृसत्ता के मातहत विकसित हो गई कथित स्त्रीभाषा (लिंग-बोली) का; बल्कि इन दोनों का अतिक्रमण कर अधिकाधिक मानवीय भाषा का संधान करना है, जो जेंडर ही नहीं, मोटे तौर पर सेक्स से भी निरपेक्ष हो, पर प्राकृतिक स्त्री-अंश की संवेदनाओं को अभिव्यक्त करने में भी अनिवार्य रूप से समर्थ हो। यानि, भाषा के क्षेत्र में या भाषा के ज़रिये स्त्री को अपने 'ख़ास' को बचाते हुए

जब यह कहे कि 'सूरदास जब कविता करते हैं, तो अलंकारशास्त्र उनके सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो जाता है.' या 'कबीरदास वाणी के डिक्टेटर थे.' अथवा 'घनानंद साक्षात् रसमूर्ति हैं.' : तो ये 'भावात्मक भाषा' के प्रयोग के उदाहरण हैं. इस प्रकार के कथनों से आलोच्य कवियों की भाषाई या संवेदनात्मक विशेषताओं की कोई रूपरेखा किसी तरह से सामने नहीं आती, बल्कि ये उक्तियाँ इन आलोचकों पर उन-उन कवियों के पड़े विभिन्न प्रभावों की व्यंजना मात्र करती हैं. इसी तरह 'सूर सूर्य तुलसी शशि ...' जैसी उक्तियाँ भी हैं. ये सब के सब वस्तुतः 'प्रभाववादी आलोचना' के छींटों की तरह हैं.

सामान्य बनने की चुनौती स्वीकारनी होगी। पर, यह 'ख़ास' पितृसत्ता वाला (देवी या कुलटा टाइप) ख़ास नहीं होगा, जिसके लिए सीमोन दि बुआ ने कहा था कि 'स्त्री पैदा नहीं होती, बल्कि बना दी जाती है।'[58] यानि, लोकतांत्रिक संरचनामय सामान्य भाषा और शोधित अर्थ में ख़ास स्त्री-भाषा की समन्वित स्थिति ही स्त्री के लिए अनुकूल भाषा होगी। ध्यान रहे कि ऐसी स्त्री-अनुकूल भाषा की रचना केवल स्त्री के लिए या बस उसकी मुक्ति के अर्थ नहीं होगी, बल्कि आज तक अधूरी भाषा में व्यक्त असंतुलित ज्ञान या एकांगी सत्य की जो पीड़ा पूरे समाज को झेलनी पड़ी है, उससे उसकी मुक्ति की दिशा में होगी। *चंद्रगुप्त* नाटक (जयशंकर प्रसाद) में चाणक्य की आकांक्षा थी : 'भाषा ठीक करने से पहले मैं मनुष्यों को ठीक करना चाहता हूँ।'[59] वह सत्य का एक पक्ष था, जिसका भाव था कि इंसान अच्छा होगा, तभी भाषा भी अच्छी होगी। इसी का दूसरा और अधिक आवश्यक पक्ष लेकर हम कह सकते हैं कि लैंगिक दृष्टि से अधिक पूर्ण भाषा की रचना की चुनौती सिर्फ़ स्त्री को नहीं, समस्त समाज को स्वीकारनी होगी, ताकि इंसान को ठीक करने के लिए सबसे पहले उसकी भाषा को ठीक किया जा सके।

संदर्भ

अजित वडनेरकर (2014), *शब्दों का सफ़र : दूसरा पड़ाव,* (2012), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

अनामिका (2008), 'स्त्री का भाषाघर', *स्त्री-विमर्श का लोकपक्ष,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

अभय कुमार दुबे (सं.) (2014), *हिंदी आधुनिकता : एक पुनर्विचार (खंड 1),*अखिल भारतीय उच्च अध्ययन संस्थान, शिमला+वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

————(2018), 'पटरी से उतरी हुई औरतों का यूटोपिया', *साहित्य में अनामंत्रित,* सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली.

अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी (संवत् 1980), *हिंदी-कौमुदी, तृतीय संस्करण* (प्रथम संस्करण संवत् 1976), द इंडियन नैशनल पब्लिशर्स लिमिटेड, कलकत्ता.

अरविंद जैन (2005), 'यौन-हिंसा और न्याय की भाषा', *न्यायक्षेत्रे : अन्यायक्षेत्रे,* पहला पेपरबैक्स संस्करण, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली.

ऑटो जेस्पर्सन (1928),'विमेन', *लैंग्वेज : इट्स नेचर, डिवेलपमेण्ट ऐंड ओरिजिन,* प्रथम संस्करण (1922) का

---

[58] कहना तो यह भी चाहिए कि पुरुष भी पैदा नहीं होता, बल्कि वह बना दिया जाता है और इतर लिंग (तीसरा लिंग) भी पैदा नहीं होता, बल्कि वह बना दिया जाता है. 'स्त्री', 'पुरुष' और 'तीसरा लिंग' : सब पैदा नहीं होते, ये दीर्घ सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया से बनाए जाते हैं. यह बात जिस संदर्भ में कही जा रही है, वह सेक्स नहीं, बल्कि जेंडर है और मूलभूत बात यह है कि 'जेंडर' एक सामाजिक-सांस्कृतिक गढ़न (सोशल-कल्चरल कंस्ट्रक्ट) है.

[59] जयशंकर प्रसाद (संवत् 1988) : 37.

वररुचि : विष्णुगुप्त ! मेरा वार्तिक अधूरा रह जाएगा. मान जाओ. तुमको पाणिनि के कुछ प्रयोगों का पता भी लगाना होगा जो उस शालातुरीय वैयाकरण ने लिखे हैं. फिर से एक बार तक्षशिला जाने पर ही उनका ...

चाणक्य : मेरे पास पाणिनि में सिर खपाने का समय नहीं. भाषा ठीक करने से पहले मैं मनुष्यों को ठीक करना चाहता हूँ, समझे ?

तीसरा पुनर्मुद्रण, जॉर्ज ऐलेन ऐंड अनविन लिमिटेड, लंदन.

———(1933) *एस्सेंसियल्स ऑफ़ इंग्लिश ग्रामर,* जॉर्ज ऐलेन ऐंड अनविन लिमिटेड, म्यूज़ियम स्ट्रीट, लंदन.

———(1935) 'सेक्स ऐंड जेंडर', *द फिलॉसफ़ी ऑफ़ ग्रामर,* पुनर्मुद्रित,जॉर्ज ऐलेन ऐंड अनविन लिमिटेड, लंदन

आ.ह. साळुंखे (2014), *हिंदू संस्कृति और स्त्री,* किशोर दिवसे (अनु.), संवाद प्रकाशन, मेरठ.

इज़ाडोरा डंकन (2002), *इज़ाडोरा की प्रेमकथा,* युगांक धीर (अनु.), संवाद प्रकाशन, मेरठ.

कात्यायनी (2008), *प्रेम, परंपरा और विद्रोह,* परिकल्पना प्रकाशन, निरालानगर, लखनऊ.

कामताप्रसाद गुरु (संवत् 1984), *हिंदी व्याकरण,* संशोधित संस्करण, इंडियन प्रेस, प्रयाग.

किशोरीदास वाजपेयी (संवत् 2055), *हिंदी शब्दानुशासन,* पाँचवाँ संस्करण, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी.

के.ए.एस. अय्यर (1991), *भर्तृहरि का वाक्यपदीय,* द्वितीय संस्करण, रामचंद्र द्विवेदी (अनु.),राजस्थान हिंदी ग्रंथ अकादमी, जयपुर.

केदारनाथ अग्रवाल (2009), *फूल नहीं रंग बोलते हैं,* साहित्य भंडार, इलाहाबाद.

गुणाकर मुळे (2003), *अक्षर-कथा,* द्वितीय संशोधित संस्करण, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली.

जगदीश्वर चतुर्वेदी, सुधा सिंह (2007), *कामुकता, पोर्नोग्राफ़ी और स्त्रीवाद,* आनंद प्रकाशन, कोलकाता.

जयशंकर प्रसाद (संवत् 1988), *चंद्रगुप्त मौर्य,* भारती भंडार, इलाहाबाद.

जे.वी.स्तालिन (2008), *मार्क्सवाद और भाषाविज्ञान की समस्याएँ,* तीसरा संस्करण (संशोधित), परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ.

टाइम्स ऑफ़ इंडिया (2020) पटना, 23 फ़रवरी.

तसलीमा नसरीन (2010), *दो औरतों के पत्र,* सुशीला गुप्ता (अनुवादक), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

दामोदर धर्मानंद कोसंबी (सं.),(1959), *भर्तृहरिशतकत्रयम्,* भारतीय विद्याभवन, बम्बई.

दिलीप सिंह (2009), 'हिंदी भाषाविज्ञान के विकास में महिलाओं का योगदान', *हिंदी भाषा-चिंतन,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली .

देवेंद्रनाथ शर्मा (2005), *भाषाविज्ञान की भूमिका,* पहले संस्करण (1966) के संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण (2001) की तीसरी आवृत्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली.

पल्लवी प्रियदर्शिनी (2019), 'सांस्कृतिक और भाषिक विषमता के शिकार थर्ड जेंडर', *शोध-दिशा,* अंक 44, (मार्च), हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर (उत्तर प्रदेश) : 212.

पाण्डेय शशिभूषण 'शीतांशु' (2013), *भाषा-विमर्श : नव्य भाषावैज्ञानिक संदर्भ,* वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली .

पेनिलॉप एकर्ट और सैली मैकोनल-गिनेट (2003) *लैंग्वेज ऐंड जेंडर,* केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, यू.के.

प्रमीला केपी (2013), *अनुवाद के व्यावहारिक आयाम,* नई किताब, नई दिल्ली.

प्रवेश भारद्वाज (2002), *किन्नर समुदाय की प्रगति,* भार्गव भूषण प्रेस, वाराणसी.

बी.के.त्रिपाठी (समन्वयक, 2014 क), *बायोलॉजी : टेक्स्टबुक फ़ॉर क्लास 12,* प्रथम संस्करण (2006) का पुनर्मुद्रण, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली.

————(समन्वयक, 2014 ख), *जीवविज्ञान : कक्षा 12 के लिए पाठ्य-पुस्तक,* एक टीम द्वारा हिंदी-अनुवाद, प्रथम संस्करण का पुनर्मुद्रण, एन.सी.ई.आर.टी., नई दिल्ली.

भार्गव शास्त्री जोशी (सं.) (1988), *व्याकरणमहाभाष्यम् (चतुर्थ खंडम्),* पुनर्मुद्रण, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली.

महादेवी वर्मा (1997), *p ´ की कड़ियाँ,* प्रथम संस्करण की तीसरी आवृत्ति, राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., इलाहाबाद.

—————(संवत् 2011), *अतीत के चलचित्र,* पाँचवाँ संस्करण, भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग.

मुहम्मद मुस्तफ़ा ख़ाँ 'मद्दाह' (1959), *उर्दू-हिंदी शब्दकोश*, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश.

मैनेजर पाण्डेय (2002), *अनभै साँचा,* पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली.

राजेंद्र प्रसाद सिंह (2013), *भाषा का समाजशास्त्र, पहले संस्करण की पहली आवृत्ति,* राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली.

रामधारी सिंह दिनकर (1961), *उर्वशी*, उदयाचल, पटना.

रवींद्र कुमार पाठक (2010), *जनसंख्या-समस्या के स्त्री-पाठ के रास्ते ... ,* राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली.

————(2016), 'सूक्ति-साहित्य : ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय संदर्भ', *प्रतिमान*, वर्ष 4, अंक 8, नई दिल्ली.

राजेंद्र यादव (2008), 'बेजुबानी जुबान हो जाए', *कथा जगत की बाग़ी मुस्लिम औरतें,* पहला पेपरबैक संस्करण, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली.

रामविलास शर्मा (2008), *भाषा और समाज, छठा* (पेपरबैक) संस्करण, राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली.

————(2012), *भारत के प्राचीन भाषा परिवार और हिंदी : खंड 3,* प्रथम संस्करण (1981) की आवृत्ति, राजकमल प्रा.लि., नई दिल्ली.

लीला दुबे (2004), *लिंग-भाव का मानववैज्ञानिक अन्वेषण : प्रतिच्छेदी क्षेत्र,* वंदना मिश्र (अनु.), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली.

लुइस एच. ग्रे (1958), *फ़ाउण्डेशन ऑफ़ लैंग्वेज,* प्रथम संस्करण (1923) का पुनर्मुद्रण, द मैकमिलन कम्पनी, न्यू यॉर्क

वर्जीनिया वुल्फ़ (1929) 'विमेन ऐंड फ़िक्शन', द *फ़ोरम,* मार्च, 1929 : 179-187 *[https://www.unz.com/print/Forum-1929mar-00179* : 25.01.2020 को 9.00 बजे पूर्वाह्न देखा गया.

विज्ञानभूषण (2009), *मूल चाणक्य नीति,* अमरसत्य प्रकाशन, नई दिल्ली.

विश्वेश्वर सिद्धांतशिरोमणि (2008), *काव्यप्रकाशः* (मम्मटाचार्यविरचित), नरेंद्र (सं.) ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी.

वी.डी.हेगड़े (2001), *हिंदी की लिंग-प्रक्रिया,* मेघ प्रकाशन, मैसूर.

वैश्ना नारंग (1996), 'नाते-रिश्ते की आधारभूत शब्दावली : हिंदी और अंग्रेज़ी व्यतिरेक', *सम्प्रेषणपरक हिंदी भाषा शिक्षण : सामान्य सिद्धांत और कुछ व्यावहारिक पक्ष,* प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली..

शालिनी शाह (2016), *नारीत्व का गठन,* ग्रंथशिल्पी (इंडिया) प्रा.लि., नई दिल्ली.

शिलानंद हेमराज (1989)),'जेनिसिस (उत्पत्ति खंड)', *इब्रानी-अरामी बाइबिल् (प्रथम खंड),* जी.एच. आनंद (हिंदी अनुवादक), भुवनवाणी ट्रस्ट, मौसम बाग़, लखनऊ.

शिवदत्त शर्मा (सं.), (1988), *व्याकरणमहाभाष्यम् (द्वितीयं खंडम्),* पुनर्मुद्रण, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, नई दिल्ली.

श्रीपाद दामोदर सातवलेकर (भाष्यकार, 1985), *ऋग्वेद का सुबोध भाष्य : चतुर्थ भाग (दशम मंडल),* वलसाड.

श्यामसुंदर दास (1975), *हिंदी शब्दसागर : खंड 11,* नागरी प्रचारिणी सभा, काशी.

संध्या सिंह (समन्वयक, 2018), *भाषा-शिक्षण : हिंदी, भाग 1,* एन.सी.ई.आर.टी. नई दिल्ली.

सियाराम तिवारी (2005), *हिंदी साहित्य : भाषिक परिदृश्य*, यश पब्लिकेशंस, नई दिल्ली.

सीमोन दि बुआ (1998), द *सेकेण्ड सेक्स* (स्त्री : उपेक्षिता), प्रभा खेतान (अनु.), हिंद पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली.

सुकुमार सेन (2009), *भाषा और स्त्री-भाषा*, मेखला दत्ता (सं.), केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा.

सुमन राजे (2003), *हिंदी-साहित्य का आधा इतिहास,* भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली.

सैयद एहतेशाम हुसैन (2002), *उर्दू साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास*, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद.

हजारी प्रसाद द्विवेदी (2013 क), *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली (खंड 1),* मुकुंद द्विवेदी (सं.), राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली.

————(2013 ख), *हजारी प्रसाद द्विवेदी ग्रंथावली (खंड 2),* मुकुंद द्विवेदी (सं.), राजकमल प्रकाशन प्रा.लि., नई दिल्ली.

हरगोविंद शास्त्री (सं. 2075), *मनुस्मृति*, चौखंभा संस्कृत भवन, वाराणसी.

हेमचंद्र जोशी (1997), 'व्युत्पत्ति का नया रूप', *भाषावैज्ञानिक निबंध*, रामा प्रकाशन, नज़ीराबाद, लखनऊ

https://hindisamay.com/kavita/duniya-roz-banti-hai-alokdhanwa/13-bhagi-hui-ladakiyan-2.htm : दिनांक 5-3-20 को 5 बजे (शाम) देखा गया.

https://www.bbc.com/hindi/india/2010/08/100801_vibhuti_controversy_da-दिनांक 3-2-20 को 5 बजे (शाम) देखा गया.